निरंकुशता-निदर्शन

निरंकुशता-निदर्शन

अर्थात्

सरस्वती-संपादक श्रीमान् पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी-
लिखित 'कालिदास की निरंकुशता' का
प्रतिवाद

लेखक

श्रीयुत मनसाराम

——:०:——

मिलने का पता

गंगा-ग्रंथागार
२०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

सजिल्द १।)] सं० १९९४ वि० [सादी ॥।)

-प्रेमोपहार-

सूचना

(प्रथमावृत्तिपर)

समालोचना साहित्यका एक अङ्ग है। समालोचना-शून्य साहित्यकी समुन्नति सम्भव नहीं। हिन्दी-साहित्यमें इसका पूरा अभाव है। आनन्दका विषय है कि कुछ दिनोसे इसकी पूर्ति होने लगी है। समालोचनाओंको समाचार-पत्रों तथा मासिक पत्रिकाओंमे ही छोड देनेमे विशेष कुछ लाभ नहीं। इसीसे हमने हिन्दीकी अच्छी-अच्छी समालोचनाएँ सङ्ग्रह क पुस्तकाकार छपवाने का विचार किया है। सफलता भगवान् के हाथ है।

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदीने 'कालिदासकी निरङ्कुशता' शीर्षक अपना निवन्ध गत जनवरी, फरवरी और मार्चकी 'सरस्वती'मे छापा था। उसमे कालिदासके काव्योकी आलोचना थी। श्रीयुत मनसारामजी ने उसी आलोचनाकी समालोचना की है। इस पुस्तक मे उसी का सङ्ग्रह है। यह 'भारतमित्र'मे क्रमशः निकल चुकी है। संस्कृत और हिन्दीके विद्वानोंने मनसाराम-कृत समालोचनाको वहुत पसन्द किया है। इसी हेतु हमने इसे सङ्ग्रह कर पुस्तकाकार छपवाया है। यदि हिन्दी-रसिकोंका इससे मनोरञ्जन हुआ, तो हम और भी समालोचनाएँ छपवानेका प्रयत्न करेगे।

पाठकोंके सुबीतेके लिये हमने द्विवेदीजीका मूल लेख भी 'सरस्वती'से उद्धृत कर अन्तमे दे दिया है। वह परिशिष्ट 'क'मे है। 'निदर्शन'पर विद्वानोकी सम्मतियाँ परिशिष्ट 'ख'मे है।

जन्माष्टमी
सं० १९६८ } सङ्ग्रहकार

वक्तव्य

(द्वितीयावृत्ति पर)

प्रेमी पाठकोंके अनुरोधसे ही इसका दूसरा संस्करण हुआ है। अब इसके बतानेकी जरूरत नहीं कि तुलसीदास, निबंध-निचय-विचित्र वीरादि पुस्तकोंके रचयिता, द्वादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके सभापति हास्यरसावतार पं० जगन्नाथ-प्रसादजी चतुर्वेदी ही मनसाराम हैं, क्योंकि यह बात प्रकटमंत्र (Open Secret) हो रही है।

दीपमालिका
सं० १९९४ } संङ्ग्रहकार

श्री

अथ

'निरंकुशता'-निदर्शन

(भारतमित्र, फागुन वदी १२ सं० १९६७)

(१)

'सरस्वती'के स्थायी सम्पादक श्रीयुक्त पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी बारह महीनेमें अपना स्वास्थ्य सुधारकर फिर साहित्यके अखाड़ेमें आये हैं। आते ही आपने घोर तर्ज्जन-गर्ज्जनके साथ कविवर कालिदासपर मुष्टिका-प्रहार किया है। अब कालिदासकी खैर नहीं, क्योंकि महावीरजी महाराज बेतरह विकट रूप धारण कर हाथ साफ़ कर रहे हैं। 'कविता-कानन-केशरी'का पहले प्रहार में ही अञ्जर-पञ्जर ढीला हो गया! आगे क्या होगा, राम जाने! जो हो, इस 'केशरी'-महावीर-संग्रामका फल देखनेके लिये दर्शकोंकी उत्कट उत्कण्ठा है।

जनवरीकी 'सरस्वती'में 'द्विवेदीजीने 'कालिदासकी निरंकुशता'-शीर्षक एक लम्बा लेख लिखा है। वह अभी अपूर्ण है; पर उसका जितना अंश निकल चुका है, उससे ही आपके प्रगल्भ पाण्डित्य और विकट विद्वत्ताका पूरा परिचय मिल जाता है। आपने उसमें अपनी बारह महीनेकी गवेषणा कूट-कूटकर भर दी है। सचमुच द्विवेदीजीने कमाल किया है। यह आपका ही काम है कि सैकड़ों मन भूसी फटक्कर गेहूँका एक दाना निकाल लेते हैं। रुग्णा-वस्था में भी आप स्थिर न रह सके। रहते कैसे? यह तो आपके

स्वभावके विरुद्ध है। इसीसे चारपाईपर लेटे-लेटे आपने कालिदासको पचोर डाला है।

द्विवेदीजी अपनी 'निरंकुशता'का श्रीगणेश इस प्रकार करते हैं—"कवि होना कठिन काम है। महाकवि होना और भी कठिन काम है। कवित्व में सिद्धि प्राप्त करने के लिए बहुत पुण्य चाहिए; हृदय में ईश्वर-प्रदत्त कवित्व-बीज चाहिए, परिश्रम भी चाहिए, अध्ययन भी चाहिए, मनन भी चाहिए (श्रवण भी चाहिये, निदिध्यासन भी चाहिये, पठन भी चाहिये, अध्यवसाय भी चाहिये, योंही कहते चले जाइये)। जो लोग कवि बनने की उच्च आकांक्षा रखते हैं, उन्हें बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अनेक परीक्षाओं में उन्हें उत्तीर्ण होना पड़ता है; अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं; अनेक अवहेलनाएँ सहन करनी पड़ती हैं (जैसे कालिदासको इस समय सहनी पड़ी हैं)। कवित्व-शक्ति बहुत ऊँचे दरजे की शक्ति है (दरजा और शक्ति गङ्गा-मदारका जोड़ा है)। इसी से ईश्वर किसी बिरले ही भाग्यवान् को उससे विभूषित करता है।"

द्विवेदीजी महाराज! आपका कहना बहुत ठीक है। मैं भी इसे मानता हूँ। कृपा कर यह तो बताइये कि आप संस्कृतके घोर पण्डित होकर भी बेचारे व्याकरणका गला क्यों घोटते हैं? निरङ्कुशताको 'निरंकुशता', आकाङ्क्षाको 'आकांक्षा' लिखना व्याकरणके विरुद्ध है या नहीं? कहिये, आप इसका कुछ जवाब देंगे, या मैं इन्हें 'अनस्थिरता'की छोटी बहनें समझ लूँ?

आगे चलकर आप कहते हैं कि "उस प्रमोद-मद में मस्त होकर कविजन लोकरीति, शास्त्ररीति और शब्दशास्त्र आदि के नियमों का कभी-कभी उल्लंघन कर जाते हैं। यह बात जान-बूझकर भी हो सकती है, और बेजाने भी। ऋषियों और मुनियों तक से ये बातें हो सकती हैं, और हुई भी हैं। 'मुनीनाञ्च मतिभ्रमः।'

आदराधिक्य के कारण टीकाकार और समालोचक लोग कवियों की कविता के अंतर्गत ऐसे-ऐसे स्थलों को भूल या प्रमाद में नहीं गिनते। उन्हें वे कवि की निरंकुशता कहते हैं। महाकवि कालिदास भी इस निरंकुशता से नहीं बचे।"

कृपा कर यह भी बता दीजिये कि 'कवि की निरंकुशता' किसे कहते हैं? लोकरीति, शास्त्ररीति उल्लङ्घन करना भी क्या कविकी निरंकुशता है? यदि है, तो किस प्रमाणसे?

द्विवेदीजी विनीत भावसे कहते हैं—"इस लेख का नाम-निर्देश देखकर ही शायद कोई कोई पाठक बिगड़ उठें। महाकवि कालिदास और निरंकुशता! कवि-कुल-गुरु पर ऐसा गुरुतर दोषारोप!! छोटे मुंह बड़ी बात!!! ऐसा आरोप जो लोग हम पर करें, प्रसन्नता-पूर्वक कर सकते हैं। हम उनके लिए यह लेख नहीं लिखते। जिनके विचार हमारे ही ऐसे हैं, उन्हीं का मनोरंजन हम इस लेख से किया चाहते हैं।"

अगर यही बात है, तो फिर 'सरस्वती'में इसके छपवानेकी क्या जरूरत थी? आप लोग आपसमें मिलकर मनोरञ्जन कर लेते। पर आपने ऐसा नहीं किया! आपने उसे 'सरस्वती'में छाप डाला! अब उसपर टीका-टिप्पणी करनेका सबको अधिकार है। आप अथवा आपके-से जिनके विचार हैं, वह मेरा लेख पढ़कर भले ही जामेसे बाहर हो जायँ, पर मुझे इसकी परवा नहीं, क्योंकि यह लेख मैंने आप लोगोंके लिये नहीं लिखा है। जिनके विचार मेरे-जैसे हैं, उनका ही मनोरञ्जन मैं इस लेख से किया चाहता हूँ।

द्विवेदीजी अपना गौरव इस भाँति वर्णन करते हैं—"विधि-विडंबना और नैषध-चरित-चर्चा लिखने और बाबू हरिश्चंद्र की दो-एक बातों की समालोचना करने के कारण हम पर जो आरोप,

प्रकोप और आक्षेप हुए हैं, उनकी याद हिंदी-साहित्य के प्रेमियों को अब तक बनी होगी। (उन्हें चाहे न हो, पर आपको तो अवश्य होगी।) तिस पर भी हम यह लेख लिखने जाते हैं।"

क्यों ? क्यों ? ऐसी क्या आफ़त आयी, जो आप 'तिस पर भी' (यानी आरोप, प्रकोप और आक्षेप होनेपर भी) यह लेख लिखने चले ? आप न लिखते, आपसे अनुरोध करने कोई थोड़े ही गया था। आपने अपनी इच्छासे यह आल्हा गाया है, फिर दूसरोंपर इसका एहसान क्यों रखते हैं ? इतने आरोप-प्रकोप होनेपर भी आपसे विना लिखे न रहा गया, तो आप धन्य हैं, और धन्य है आपका साहस !

कालिदासपर द्विवेदीजीकी बड़ी भक्ति है। आप लिखते हैं—"कालिदास को हम महाकवि ही नहीं समझते हैं, हम उन्हें देवता समझते हैं, पूजनीय समझते हैं, अपना गुरु समझते हैं। अभी इस एक वर्ष की बीमारी में—और बीमारी अब तक गई नहीं—हमने गीता नहीं पढ़ी, श्रीमद्भागवत का पारायण नहीं किया, वाल्मीकि-रामायण नहीं देखा (अच्छा किया, नहीं तो आज वाल्मीकि और वेदव्यासकी भी शामत आ जाती)। जब कभी हमने कुछ पढ़ा है, रघुवंश पढ़ा है। इससे आप जान सकेंगे कि हमारे हृदय में कालिदास का कितना आदर है। और, यह इसी आदर और अवलोकन का फल है, जो हम यह लेख लिखने बैठे हैं।"

साधु ! साधु !! आपका कहना बहुत ठीक है। हृदयमें इतना आदर न होता, तो सचमुच कालिदासकी निरङ्कुशता आपको न सूझती। यह आपकी गुरु-भक्ति और पूज्य बुद्धिका ही फल है, इसे मैं भी स्वीकार करता हूँ। श्रीयुक्त द्विवेदीजीपर मेरी भी बड़ी भक्ति है, इसीसे मैं भी उनके इस लेखकी आलोचना करने बैठा हूँ।

इस प्रकार लम्बी-चौड़ी भूमिका लिखनेके उपरान्त द्विवेदीजीने

कविवर कालिदासकी कविताओंमें उपमाकी हीनता, उद्वेग-जनक उक्ति, अनौचित्यदर्शक उक्ति आदि कई दोष दिखलानेकी चेष्टा की है। कालिदासमें ये सब दोष हैं या नहीं, इसका विचार मैं यहाँ न करूँगा। मैं अभी केवल यही दिखाऊँगा कि द्विवेदीजीने कालिदासके जहाँ-जहाँ जो-जो दोष दिखाये हैं, वे नितान्त निर्बल, निस्सार और निर्मूल हैं।

श्रीयुक्त द्विवेदीजी महाराजने अपनी 'निरंकुशता'की भूमिकामें एक बड़े मार्केकी बात कही है। उसका उल्लेख करना मैं भूल ही गया था। आप कहते हैं कि "कालिदास ने रघुवंश के आरंभ में ही लिखा है—

'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।' कालिदास को शंकर-पार्वती का इष्ट था। वह उनके इष्टदेव थे; यह एक बात। दूसरी बात यह कि उन्हें वह सारे संसार का माता-पिता समझते थे। इन्हीं जगत् के पितर और अपने इष्टदेव की श्रृंगार-रस-संबंधिनी चेष्टाओं का वर्णन कालिदास ने एक साधारण कामुक की तरह कुमारसंभव में किया है। अपने माता-पिता के विषय में कोई मनुष्य ऐसी बात मुँह से नहीं निकालता, फिर संसार के माता-पिता के विषय में! क्या यह कालिदास की निरंकुशता नहीं?"

नहीं—कभी नहीं! यह मैं डंकेकी चोट कहता हूँ, जो इसे कालिदासकी निरङ्कुशता समझता या कहता है, वह संस्कृत-साहित्य-से नितान्त अनभिज्ञ मालूम होता है। संस्कृतके विद्वान् कभी ऐसी ऊटपटाँग बातें मुँहसे नहीं निकालेंगे।

द्विवेदीजी महाराज! क्या सचमुच इसे आप निरङ्कुशता समझते हैं? यदि यही बात है, तो आप भूलते हैं। आप शायद जानते होंगे कि 'कुमारसम्भव' कालिदासकी पहली रचना है। इसमें उन्होंने पार्वती-परमेश्वरका वर्णन नायक-नायिका-रूपसे किया है। उन्हें

इष्टदेव कहीं भी नहीं माना है। अगर माना हो, तो आप ही कृपा कर ज़रा बता दें। हाँ, 'रघुवंश' में ज़रूर कालिदासने "जगतः पितरौ वन्दे" कहा है। यह कुमारसम्भवके बादकी रचना है। हो सकता है कि कुमारसम्भव लिखनेके समय कालिदासका वह भाव पार्वती-परमेश्वरपर न हो, जो रघुवंशकी रचनाके समय था। यह एक बात। दूसरी यह कि समाजकी रुचि समयके अनुसार बदलती रहती है। जिस कामको पहले लोग अच्छा समझते थे, आज उसीको हम बुरा समझते हैं, और जिसे हम आज भला समझ रहे हैं, पहले उसे बुरा समझते थे, और सम्भव है, पीछे उसे लोग और भी बुरा समझें। यहीं नहीं, सब देशोंकी यही दशा है। फिर आप उसे भला-बुरा कैसे कह सकते हैं ? यदि उस समयकी यही प्रचलित प्रणाली हो, तो कालिदासको 'निरंकुश' कहना आपकी अहम्मन्यता है या नहीं ? मैं समझता हूँ कि उस समय यही प्रणाली थी। कालिदासके आगे-पीछे जितने कवि हुए है, प्रायः सबने इस तरहकी बातें लिखी हैं, फिर कालिदास निरङ्कुश क्यों ?

क्या आपने 'सौन्दर्य्य-लहरी' नहीं पढ़ी है ? यदि नहीं, तो उसे एक बार ज़रूर पढ़ जाइये। उसमें एक-से-एक बढ़कर ऐसे श्लोक हैं। बतौर नमूनेके ६६वाँ श्लोक उद्धृत कर देता हूँ। वह इस प्रकार है—

"हरक्रोधज्वालावलिभिरवलीढेन वपुषा
गभीरे ते नाभी सरसि कृतझम्पो मनसिजः ;
समुत्तस्थौ तस्मादचलतनये धूमलतिका ,
जनस्तां जानीते जननि तव रोमावलिरिति ।"

द्विवेदीजीके डरसे मैंने इसकी टीका नहीं की। यह देवीकी स्तुति है। इसमें 'जननि'-शब्द ध्यान देने योग्य है। लोगोंका अनुमान है कि इस 'सौन्दर्य्य-लहरी'के रचयिता शङ्कराचार्य हैं।

नख-शिखका खुले शब्दोंमें वर्णन कर स्तुति-गान करते हैं, तब कालिदास-जैसे कविका कुमारसम्भवमें 'शृङ्गार-रस-सम्बन्धिनी चेष्टाओंका वर्णन' करना निरङ्कुशता क्यों? यदि 'सौन्दर्य्य-लहरी' शङ्कर कृत न भी हो, तो एक भक्त कविकी रचना अवश्य है।

श्रीहर्ष-कृत 'रत्नावली-नाटिका'का मङ्गलाचरण इस प्रकार है—

"पादाग्रस्थितया मुहुःस्तनभरेणानीतया नम्रताम्,
शम्भोः सस्पृहलोचनत्रयपथं यान्त्या तदाराधने,
ह्रीमत्या शिरसीहितः सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया,
विश्लिष्यन् कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातु वः।"

क्या मङ्गलाचरण और ढङ्गसे नहीं हो सकता था? इसके लिखे विना कविका क्या हरज था? क्या वह निर्लज्ज या निरङ्कुश था, जो उसने शिव-पार्वतीका इस प्रकार वर्णन किया? नहीं, यह सब वह कुछ नहीं था। वह सच्चा कवि था। सामयिक रीति-नीतिका वर्णन करना सच्चे कविका धर्म है। उस समयकी प्रचलित प्रणालीके अनुसार ऐसा वर्णन बुरा नहीं समझा जाता था, इसीसे संस्कृत-साहित्यमें ऐसे श्लोकोंका अभाव नहीं है।

द्विवेदीजी! कालिदासपर जो दोष आज आप लगाने बैठे हैं, वही दोष आप स्वयं चार-पाँच साल पहले कर चुके हैं। आपकी बुद्धि परिमार्जित है, और रुचि परिशोधित है। फिर आपने यह पाप क्यों किया? आपको शायद अपनी करतूत याद न हो, इसलिये बताये देता हूँ कि चार-पाँच वर्ष पहले आपने 'सरस्वती' में मनोरञ्जनके लिये निम्न-लिखित श्लोक छापा था—

"कचकुचचिबुकाग्रे पाणिषु व्यापृतेषु
प्रथमजलधिपुत्रीसङ्गमेऽनङ्गधाम्नि;
ग्रथितनिबिडनीवीबन्धनिर्मोचनार्थे,
चतुरधिककराशः पातु वश्चक्रपाणिः।"

यह पुराना श्लोक है, पर माननीय द्विवेदीजीने 'सरस्वतीमें' छापकर इसे फिर ताज़ा कर दिया। केवल यही नहीं, आपने इसका हिन्दी-अनुवाद भी दे दिया था। इसपर उस समय 'भारत-मित्र'ने टीका-टिप्पणी भी की थी। द्विवेदीजी! कृपा कर बता दीजिये, आपने यह श्लोक क्यों छापा? साक्षात् विष्णु भगवान् और लक्ष्मीकी इस 'श्रृङ्गार रस-सम्बन्धिनी चेष्टाका वर्णन' आपने सरस्वतीमें क्यों किया? यदि किया भी, तो उसके विरुद्ध कुछ क्यो नहीं कहा? क्या यह आपकी निरङ्कुशता नही है? यदि नहीं, तो फिर कालिदासकी क्यों होने लगी? जब चार-पाँच वर्ष पहले आप स्वयं इस प्रकारका वर्णन निन्दनीय नहीं समझते थे, तब कालिदास तो आपसे बहुत पहले हो चुके हैं। उनपर आपका यह दोपारोपण क्या केवल धृष्टता-मात्र नहीं है?

श्रद्धाभाजन द्विवेदीजी अपनी 'निरंकुशता' पुष्ट करनेके लिये आगे चलकर कहते हैं—"इस तरह की समालोचना (को) कालि-दास के इस अनुचित काम का प्रायश्चित्त मान लीजिए।"

बहुत अच्छा, मान लेंगे। आप कालिदासको "देवता समझते हैं, पूजनीय समझते हैं, अपना गुरु समझते है।" आपका उन-पर अधिकार है। आप जो चाहें, कर सकते हैं। उनका प्रायश्चित्त कीजिये, या उन्हें पतित रखिये—दण्ड दीजिये या क्षमा कीजिये। मुझे कोई उज़्र नहीं है।

आगे चलकर द्विवेदीजी और भी ग़ज़ब करते हैं। आपने अपने 'पूजनीय' कालिदासको 'निरंकुश' सिद्ध करने के निमित्त मम्मट भट्टके काव्यप्रकाश तककी दुहाई दी है। आप फ़रमाते हैं—"मम्मट भट्ट ने तो उत्तम देवता-विषयक संभोग-श्रृंगार-वर्णन को भी महा अनुचित माना है—'रतिःसम्भोगश्रृङ्गाररूपा उत्तमदेवता-विषया न वर्णनीया' इत्यादि।"

द्विवेदीजी महाराज! आप कौड़ी तो बहुत दूरकी लाये, पर अफ़सोस,

कुछ काम न निकला ! आप-जैसे विद्याचञ्चुओंके मुँहसे ऐसी लचर बात सुनकर बड़ा आश्चर्य होता है। मुझे विश्वास है कि आप ज़रा बुद्धिको स्थिर कर सोचते, तो ऐसी भद्दी भूल कभी न करते ! पर आप सोचते कैसे ? आप तो कालिदासको 'येन केन प्रकारेण' निरङ्कुश सिद्ध करनेके नशेमें ऐसे चूर हुए कि सब सुध-बुध खो बैठे। क्या आप नहीं जानते कि 'काव्यप्रकाश' कालिदासके पीछे बना है ? यदि न जानते हों, तो किसी संस्कृतके विद्वान्से पूछ लीजिये। कालिदासके समयमें जब 'काव्यप्रकाश' क्या 'काव्यप्रकाश'के रचयिता मम्मट भट्टका भी जन्म नहीं हुआ था, तब भला उसके नियमोंका पालन करना कालिदासके लिये कब सम्भव था ? क्या यह मोटी बात भी आपकी समझमें न आयी ? मालूम होता है, जिस समय आप 'काव्यप्रकाश'के पन्ने उलट रहे थे, उस समय आपकी अक़ल जुहीके मैदानमें हवा खाने गयी थी। अगर ऐसा न होता, तो आप ऐसी बेसिर-पैरकी बात क्यों कहते ?

ख़ैर, अब मैं प्रणाम करता हूँ। अगले सप्ताह फिर दर्शन करूँगा। जब तक मैं इधर दूसरा लेख तैयार करूँ, तब तक द्विवेदीजी महाराज कृपा कर 'बूँद' और 'रामायण' को पुंलिङ्ग सिद्ध कर दें।

(२)

माननीय महावीरजी महाराजने प्रथम प्रहारमें कवि कुल-कुमुद-कलाधर कालिदास की उपमा का उपमर्द किया है। आप कालिदासके उपमालङ्कारकी कुछ प्रशंसा करके कथन करते हैं—"यह सब होने पर भी इनके (कालिदासके) काव्यो में कुछ उपमाएँ ऐसी देखी जाती है, जो इनकी अन्यान्य उपमाओ के मुक़ाबले में बहुत हीन हैं। एक उदाहरण लीजिए—

य: कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः ,
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ।

अर्थात्—अपवाद जैसे उत्सर्ग का व्यावर्तन करने में समर्थ है, वैसे ही रघुवंशियों में से अकेला एक भी शत्रु-संतापकर्ता रघुवंशी वैरियों को रोकने या उन्हें बाधा पहुँचाने में समर्थ है।"

यह तो हुई द्विवेदीजीकी टीका। अब आपकी टिप्पणी भी सुन लीजिये। आप कहते हैं—"अब विचार यह है कि इस उपमा से रघुवंशियों की हीनता सूचित होती है या शक्तिमत्ता। विशेष विधि को अपवाद कहते हैं, और सामान्य विधि को उत्सर्ग। उत्सर्ग सामान्य शास्त्र हुआ, अपवाद विशेष शास्त्र। सामान्य शास्त्र अधिक व्यापक होता है, विशेष शास्त्र बहुत कम। पूर्वोक्त उपमा में रघुवंशी अपवादवत् अल्पव्यापक शक्तिवाले माने गए हैं, और उनके शत्रु उत्सर्गवत् विशेष व्यापक शक्तिवाले। अतएव अपने शत्रुओं के मुकाबले में रघुवशी हीन हुए। रघुवंशी अपने शत्रुओं की व्यापकता और शक्ति के लिए रुकावट भले ही पैदा करें, पर उनकी अपेक्षा वे कम शक्ति रखनेवाले और कम व्यापक अवश्य हुए।"

दरीचेशक। जो कुछ हुज़ूर फ़रमाते है, बजा है। बालकी खाल खेंचना इसे ही कहते हैं! अब तक तो लोग यही जानते थे "उपमा कालिदासस्य"—अर्थात् कालिदासकी उपमा सब कवियोंसे बढ़िया होती है। दस वर्ष पहले आपकी भी यही धारणा थी। आपकी लिखी हिन्दी 'कालिदास'-नामक पुस्तक मेरे सामने है। यह सन् १९०१ ई० की छपी है। इसके १२४वें पन्नेके २१वें पैरेमें आपने लिखा है—"उपमा अलंकार में कालिदास की बराबरी कोई नहीं कर सकता। रघुवश उपमाओं की खानि है, ऐसी-ऐसी अनोखी उपमाएँ अन्यत्र नहीं देखी गईं।" इत्यादि। इसी पुस्तकके ११०वें पन्नेका ९वाँ पैरा इस प्रकार है—"जो यह सुनते आए है कि कालिदास के बराबर उपमा अलंकार में दूसरा कवि नहीं हुआ, उसका प्रमाण रघुवंश में पद-पद पर मिलता है।"

परन्तु अब आपको उसी 'रघुवंश'में उपमाकी हीनता दृष्टिगोचर होती है ! कहिये, अब मैं आपकी पहली बात सत्य मानूँ या पिछली ? दोनो सत्य नहीं हो सकती। इनमें एक अवश्य असत्य है। कृपा कर आप ही सत्यासत्यका निर्णय कर दें ! मैं समझता हूँ, शायद आप अपनी पिछली बातकी ही तरफ़दारी करेंगे, क्योंकि वह आपके परिमार्जित, परिशोधित, परिवर्त्तित, परिवर्द्धित और परिपक्व मस्तिष्कसे प्रसूत हुई है। अतएव मैं उसीपर टीका-टिप्पणी करूँगा।

यह कालिदास-कृत 'रघुवंश'के पन्द्रहवें सर्गका श्लोक है। बस, इसीमें द्विवेदीजीको उपमाकी हीनता दिखाई पड़ी है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदासके सम्पूर्ण काव्योंमें और कहीं हीन उपमा नहीं है। यदि होती, तो द्विवेदीजी कालिदासका मुलाहज़ा कभी न करते। उसे भी लिखकर अपने-जैसे विचारवालों का अवश्य मनोरञ्जन कर डालते। पर इसमें भी उपमाकी हीनता कहाँ है, यह मेरी समझमें अब तक न आया। बारह महीनेमें स्वाँग भी लाये, तो कोढ़ीका। हीन उपमाका उदाहरण भी आप पकड़ लाये तो ऐसा, जो कालिदासको निरङ्कुश सिद्ध करनेके बदले आपकी ही क़लई खोलता है ! आश्चर्य है कि ऐसी हृष्ट-पुष्ट उपमाको आप हीन कहते हैं ! आप समझते हैं कि उत्सर्ग अधिक व्यापक होता है, और अपवाद बहुत कम। तो हुआ करे। इसके लिये आप व्यर्थ क्यों चिन्ता करते है ? यहाँ तो शक्तिमत्ताकी बात है, व्यापकताकी नहीं। उत्सर्गके बहुव्यापक होनेपर भी अपवादकी शक्तिमत्ता नहीं जाती है। जहाँ मौक़ा लगता है, वहाँ अपवाद उत्सर्गको धर दबाता है। बेचारा उत्सर्ग पुकारता ही रह जाता है, और अपवाद अपना काम कर लेता है। शक्तिमान् उत्सर्गको अपवाद जिस प्रकार दे मारता है, उसी प्रकार

लवणासुरको रघुवंशियोंमें कोई एक भी हटा सकता है। अब कहिये, इसमें कैसे उपमा की हीनता हुई? यह उपमा ऐसी अच्छी है कि कविवर कालिदासने इसका प्रयोग कई बार किया है। नमूनेके लिये 'कुमारसम्भव' का द्वितीय सर्ग देख लीजिये। उसका १७वाँ श्लोक यह है—

"लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः॥"

आप कह सकते हैं कि यहाँ भी उपमाकी हीनता है। परन्तु विचारवान् लोग कदापि नहीं कहेंगे। द्विवेदीजी महाराज! ऐसी सुन्दर उपमाको जब आप हीन बताते हैं, तब आपको दूरसे ही प्रणाम करनेके सिवा और क्या कहूँ?

जब साहित्यसे काम न चला, तब श्रद्धेय द्विवेदीजीने राज-नीतिकी शरण ली है। आप कहते हैं—"एक बात और भी है। राजनीति यह है—छोटे भी शत्रु को बड़ा समझना चाहिए, और उसे निर्मूल करने के लिए कोई बात उठा न रखनी चाहिए। यहाँ पर उपमा के अनुसार रघुवंशियों का शत्रु लवणासुर अधिक शक्ति-संपन्न है, उसका विनाश तो रघुवंशी नहीं कर सकते, उसकी शक्ति को बढ़ने से रोक-भर सकते है। अतएव रघुवंशियो के लिए यह और भी कलंक की बात हुई।"

नहीं, कलङ्क की बात नही हुई। यह उनके गौरवकी बात हुई। शक्तिसम्पन्न शत्रुओंका सामना करनेसे ही तो नाम होता है, और गौरव बढ़ता है, दुर्बल शत्रु से लड़नेमें कभी बहादुरी नहीं है। इसी-से कविवर कालिदासने लवणासुरकी तुलना उत्सर्गसे करके उसे अधिक शक्तिसम्पन्न बनाया है। फिर रघुवंशियोंमें अकेले एक-की तुलना अपवादसे की है। पहले मैं कह चुका हूँ कि बलवान् उत्सर्गको भी मौक़ा पाकर अपवाद धर दबाता है। अतएव केवल

एक रघुवंशीका शक्तिसम्पन्न लवणासुरको हराना, रोकना, बाधा पहुँचाना गौरवकी बात है, कलङ्ककी नहीं। न-जाने द्विवेदीजी-ने इसे कैसे कलङ्क समझ लिया! एक बात और भी है। विद्वान् द्विवेदीजी शत्रुको निर्मूल करनेके पक्षमें हैं। आप शत्रुको हराना या परास्त करना पसंद नहीं करते। इसीसे आपका कथन है—"यह उपमा कालिदास के अनुरूप नहीं।" क्यों? कालिदासने कब कहा कि शत्रुओंको निर्मूल मत करो। उन्होंने तो केवल यही बताया कि लवणासुरको परास्त करनेके लिये केवल एक रघुवंशी यथेष्ट है! इसमें राजनीतिके विरुद्ध क्या हुआ, जो आप उसकी दुहाई देने लगे? पानी बिना मोज़े उतारना ठीक नहीं।

हिन्दीके प्रसिद्ध लेखक पण्डित महावीरप्रसादजीने अँगरेज़ी राज्य और नेपालकी समता उत्सर्ग और अपवादसे करके और भी कमाल किया है। इस समताने तो द्विवेदीजीकी बची-खुची पोल भी खोल दी है। इससे तो यही मालूम होता है कि उत्सर्ग और अपवाद-का यथार्थ ज्ञान आज तक आपको नहीं हुआ। अगर होता, तो आप क्यों लिखते—"नेपालवाले अँगरेज़ी क़ायदे-क़ानून की पाबंदी करने के लिए मजबूर नहीं। वे अपने राज्य की सीमा के भीतर स्वतंत्र हैं; जो चाहें कर सकते हैं। बल, प्रभुता और शक्ति में वे अँगरेज़ों की समता नहीं कर सकते।"

आपकी बलासे। आप इसके लिये दुबले क्यों हैं? आप तो कृपा कर यह बता दें कि अँगरेज़ी राज्य उत्सर्ग और नेपाल अपवाद कैसे हुए? क्या नेपाल अँगरेज़ी राज्य पर चढ़ बैठा है, या उसने उसका कुछ अंश दबा लिया है? कहिये, क्या बात है? अँगरेज़ी राज्य बड़ा और नेपाल छोटा है। शायद इसीसे आपने यह सिद्धान्त निकाला है। पर गुस्ताख़ी माफ़ हो, आपने यहाँ भी धोखा खाया है। न अँगरेज़ी राज्य उत्सर्ग है, और न नेपाल अपवाद ही है। अगर आप

छुटाई, बड़ाई और शक्तिमत्ताकी तरफ़ जाते हैं, तो बतला दीजिये, रूस और जापानमें कौन अपवाद है ?

बस, आज यहीं तक।

(२)

पूजनीय पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदीने दूसरे प्रहारमें कालिदासकी 'उद्वेगजनक उक्ति'का उल्लेख किया है। यह उक्ति द्विवेदीजीको बहुत खटकी है। अतएव आपने उसका विशदरूपसे वर्णन किया है। आप 'रघुवंश'के बारहवें सर्गका बाईसवाँ श्लोक पढ़नेका अनुरोध कर कहते हैं—"एक पेड़ के नीचे सीता की गोद में (सिर रखकर) थके हुए रामचन्द्र सो रहे हैं। इसी समय—

ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः ;
प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरो भाग्यमिवाचरन्।

अर्थ—इंद्र के बेटे कौवे ने उनके स्तनद्वय को नाख़ूनों से विदीर्ण कर दिया। वहाँ पर रामचन्द्र के उपभोग के जो चिह्न थे, उनमें मानो उसने दोष दिखलाए। मतलब यह कि तुम्हें नखक्षत करना नहीं आता; देखिए, इस तरह करना चाहिए। पाठक, कृपा करके बतलावें, यह उक्ति उन्हें कहाँ तक पसंद है। चित्त में कुछ उद्वेग पैदा करती है या नहीं।"

जब तक आप यह न बतला दें कि 'उद्वेग'से यहाँ आपका क्या अभिप्राय है, तब तक मैं क्या उत्तर दे सकता हूँ। बाक़ी रही पसन्द की बात, सो आप जानते ही हैं कि "भिन्नरुचिर्हि लोकः।" आपके या आपके जैसे विचारवालोंके चित्तमें इस उक्तिसे भले ही 'उद्वेग' उत्पन्न हो गया हो, परन्तु इधर तो कुछ भी नहीं हुआ है। बात यह है कि आपका चित्त बड़ा विलक्षण है, उसमें जो न हो जाय, सो आश्चर्य्य है।

अब ज़रा जनाब द्विवेदीजीकी लच्छेदार तर्कणा भी देख लीजिये,

आप बड़ी मचलाहटके साथ फ़रमाते हैं—"रामचंद्र उत्तम नायक थे, फिर क्या वह इतने मूर्ख थे कि नखक्षत करने की भी अक़्ल उनमें न थी ? इस काम को क्या कौवा उनसे अच्छा कर सकता था ?"

नहीं—कभी नहीं। यह कहता कौन है कि वह कर सकता था ? पर वह कौवा हो जब न ? वह तो 'ऐन्द्रिः' अर्थात् इन्द्रका बेटा है। फिर इन्द्रके बेटेके बारेमें यह सन्देह करना आपकी भ्रान्ति है या नहीं ?

आप कहते हैं—"रामचंद्र को अयोध्या छोड़े बहुत दिन हो गए थे। भरत के लौट जाने पर जिस समय वह चित्रकूट में थे, उस समय की यह घटना है। वन में रामचद्र तापस के वेश में थे। लक्ष्मण बराबर उनके साथ रहते थे। इस बात का क्या प्रमाण है कि वह ब्रह्मचर्य-धारण-पूर्वक अपना काल-यापन न करते थे ?"

भला आपके ही पास क्या प्रमाण है कि रामचन्द्र ब्रह्मचर्य्य-धारण-पूर्वक अपना काल-यापन करते थे ? जब तक आप इसका प्रमाण न देंगे, तब तक भला कोई आपकी बात कैसे मान लेगा ? क्या इन्हीं थोथी बातोंके भरोसे आप अपने गुरुवर कालिदासकी 'निरंकुशता' दिखलाने चले हैं ?

आगे चलकर आपकी तर्कणा परा काष्ठाको पहुँच जाती है। आप पूछते हैं—"क्या सीताजी नंगी रहती थीं ? क्या दुपट्टा, कंचुकी, मृगचर्म आदि वह कोई चीज़ न पहनती थीं ? सुहेली, ज़ुलू, अशान्यन, रेड इंडियन आदि असभ्य जंगली लोगों की स्त्रियों की तरह केवल कटि-प्रदेश को पत्तों या छाल से तो वह ढके रहती न थीं ? फिर कौवे ने उस अंग-विशेष को विदीर्ण कैसे किया ?"

क्या यह मोटी बात भी आपकी समझमें न आयी ? आप 'सरस्वती'के सम्पादक हैं—'संपत्ति-शास्त्र'के रचयिता हैं—'बेकन-विचार-रत्नावली'के लेखक हैं; फिर आपकी समझमें यह बात

क्यों नहीं आयी, यही बड़ा आश्चर्य है। मैं मानता हूँ कि सीताजी सुहली, जुलू, बशम्यन, रेड इण्डियन आदि असभ्य जङ्गली लोगोंकी स्त्रियोंकी तरह केवल कटिप्रदेशको पत्तों या छालसे ढके नहीं रहती थीं, पर वह मेमोंकी तरह गाउन भी नहीं पहने रहती थीं, और न परदेनशीन मुसलमान महिलाओंकी तरह बुरक़ा ही व्यवहार करती थीं। आप कहते हैं—"रामचन्द्र तापस के वेश में थे, फिर सीताजी क्यों दुपट्टा ओढ़ने या कंचुकी पहनने लगी थीं?" ख़ैर, मान लीजिये कि वह दुपट्टा ओढ़े थीं, और कञ्चुकी भी पहने थीं! तो क्या हवाके झकोरेसे दुपट्टेके पल्लेका ज़रा उड़ जाना सम्भव नहीं है? और कञ्चुकीके रहते उस अङ्ग-विशेषका विदीर्ण होना भी सम्भव नहीं है? यदि आप कहेंगे 'नहीं', तो मैं जान लूँगा कि इन विषयोंका परिज्ञान आपको नहीं है! अच्छा, इस बातको जाने दीजिये। दुपट्टा भी यथास्थान है—कञ्चुकी भी कसी है, पर आप जानते ही है कि कव्वे बड़े चालाक होते है, और यह साधारण कव्वा नहीं है—इन्द्र का बेटा है। उसने अगर ज़बरदस्ती अङ्ग-विशेषको विदीर्ण कर दिया हो, तो क्या आश्चर्य है? इस ज़रा-सी बातके लिये आपने नाहक़ ही अपनी अक़्लको हैरान किया।

इतनेपर भी आपने कालिदासका पिण्ड नहीं छोड़ा है। आगे चलकर उन्हें और भी बेवक़ूफ़ बनाया है। आप लिखते हैं—"कौन न स्वीकार करेगा कि पैरों पर कौवे की चोंच या नखों का लगना अधिक संभ(सभ्य)वनीय है?"

बुद्धिमान् लोग तो कभी स्वीकार न करेंगे। आप भले ही कर लें। यहाँ आपने किस Logic तर्कशास्त्रसे काम लिया है, यह मैं नहीं जानता हूँ। कृपानिधान! आप ही बतावें कि जब सीताजीकी गोदमें सिर रखकर रामचन्द्र सो रहे है, तब सीताजीके पैरोंपर

फव्वेकी चोंच या नखोंका लगना कैसे अधिक सम्भवनीय है? आपकी इस असम्भवनीय उक्तिको सुनकर एक भोला बालक भी खिलखिला उठा।

समालोचक शिरोमणि द्विवेदीजी अपने गुरुवर कालिदासपर और एक बड़ा भारी दोष लगाते हैं। आपका कथन है—"अतएव कालिदास का पूर्वोक्त पद्य वाल्मीकि-रामायण का आधार नहीं रखता। उन्होंने किसी और पुराण के आधार पर वह उक्ति कही होगी।"

जी नहीं, कालिदासने किसी और पुराणके आधारपर वह उक्ति नहीं कही है, उनका पूर्वोक्त पद्य वाल्मीकि-रामायणका ही आधार रखता है। यदि विश्वास न हो, तो वाल्मीकि-रामायणका सुन्दर-काण्ड चश्मा लगाकर देख लीजिये। वहाँ आपको इसके प्रमाण और भी मिलेंगे। आपके सुबीतेके लिये उसके ६७वे सर्गका तीसरा श्लोक नीचे लिख देता हूँ। वह इस प्रकार है—

"सुखसुप्ता त्वयासार्द्धं जानकी पूर्वमुत्थिता;
वायसः सहसोत्पत्य विददार स्तनान्तरम्॥"

कहिये, यहाँ आपने मुँहकी खायी या नहीं? यदि आप अपनी एक वर्षकी बीमारीमें केवल 'रघुवंश'के पन्ने न उलटकर वाल्मीकि-रामायणको भी एक नज़र देख लेते, तो आज इस तरह आपकी फ़ज़ीहत न होती। आपने अयोध्याकाण्डके दो श्लोक उद्धृत करके लोगोंको ख़ूब ही झुत्ता देना चाहा था, पर अफ़सोस! आपकी दाल न गल सकी। यारोंने बीचमें ही भण्डा फोड़ दिया।

उक्त श्लोकमें 'स्तनान्तरम्'की जगह कहीं-कहीं 'स्तनान्तरे' भी पाठ है। यह द्विवचन है। अतएव महाराजजी! आपका यह आक्षेप भी नितान्त अनुचित है कि "कालिदासने द्विवचनका प्रयोग किया है। आपको एकवचन से संतोष नहीं

है। द्विवचन लिखकर दोनो स्तनोको एक ही साथ विदीर्ण कराया !"

तो एक ही साथ विदीर्ण करानेसे आप बिगड़ क्यों उठे ? क्या इसमें आपको कुछ तकलीफ़ हुई ? अगर हुई हो, तो इसमें कालिदास-का कुछ दोष नहीं है। यह आपका भ्रम है, कालिदासने तो केवल 'बिददार स्तनौ' लिखा है। आपने इसका अर्थ 'एक ही साथ' कैसे कर लिया ? क्या यह आपकी सख़्त अक़्लमंदीका नतीजा नहीं है ?

अच्छा, इन बातोंको जाने दीजिये, अब दूसरा प्रमाण लीजिये। हनुमानजीने सीताजीसे कहा कि अब मैं रामचन्द्रके पास जाता हूँ। आप कृपा कर कुछ ऐसी बातें बता दें, जिसमें रामचन्द्रको विश्वास हो जाय कि मैं आपका पता लगा गया हूँ। इसपर सीताजी कहती हैं—

"तत. सुप्तप्रबुद्धां मां राघवाङ्कात्समुत्थिताम् ;
वायसः सहसागम्य विददार स्तनान्तरे।"

यह भी सुन्दरकाण्डके ३८वें सर्गका २२वाँ श्लोक है। इस श्लोकसे ही आपकी सब शङ्काओंका समाधान हो जाता है।

राघवाङ्कसे सीताजीका सोकर उठना साबित करता है कि रामचन्द्र ब्रह्मचर्य्य-धारण-पूर्वक अपना काल-यापन नहीं करते थे, और न सीताजी ही उस समय कन्चुकी आदि पहने थीं। उपभोग-चिह्नोंका रहना भी उस समय अधिक सम्भव है। ऐसी अवस्थामें कव्वेका उस अङ्ग-विशेषको विदीर्ण करना कभी असम्भव नहीं। यदि हो भी, तो इसमें कालिदासका दोष नहीं है। दोष है आदि कवि वाल्मीकिका। कालिदासने तो उनकी उक्तिको दोहराया-भर है। इसीसे उन्होंने 'किल' शब्द दे दिया है। "किलेति ऐतिह्ये" कहा भी है।

(४)

हिन्दीके महाकवि श्रीमान् पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी तीसरे प्रहारमें कालिदासकी 'अनौचित्य-दर्शक उक्ति'का उद्घाटन करते हैं। आप कालिदासके काव्योंसे टटोलकर इस उक्तिके दो उदाहरण पकड़ लाये हैं। पहलेके सम्बन्धमें आप लिखते हैं—"कुमारसंभव के आठवें सर्ग में कालिदास का एक श्लोक है। वह यह है—

"तं यथात्मसदृशं वर वधूरन्वरज्यत वरस्तथैव ताम्;
सागरादनपगा हि जाह्नवी सोऽपि तन्मुखरसैकवृत्तिभाक्।"

अर्थ—अपने सदृश वर, अर्थात् शिव, पर वधू पार्वती जिस तरह अनुरागवती थीं, वर अर्थात् शिव भी उसी तरह वधू पार्वती पर अनुरागवान् थे। समुद्र मे पहुँचकर गगा (गङ्गा) फिर पीछे को नहीं लौटती, और समुद्र भी गंगा के मुख-रस (पान करने) में अपनी एकमात्र वृत्ति को प्रवर्तित कर देता है। अर्थात् और किसी नदी के मुख-रस-पान में वह प्रवृत्त नहीं होता; अकेली गंगा के मुख-रस-पान में वह एकवृत्ति हो जाता है।"

इस प्रकार मूल और अर्थ लिखकर द्विवेदीजी महाराज अपनी अद्भुत आलोचनाकी आँधी इस प्रकार चलाते हैं—"कालिदास की इस अनोखी उपमा से अनौचित्य की झलक आती है।"

झलक ही क्यों? इसमें तो अनौचित्य कूट-कूटकर भरा है! न-जाने इन दोषोंके रहते भी कालिदासकी गिनती श्रेष्ठ कवियोंमें कैसे हो गयी? अगर माननीय द्विवेदीजी दो-चार शताब्दी भी पहले जन्म ग्रहण कर लेते, तो ऐसा अन्धेर कभी न होने पाता। पर "अब पछताये कहा होत, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत।"

अपनी बातको परिपुष्ट करनेके लिये द्विवेदीजी यह शङ्ख बजाते हैं—"जाह्नवी का समुद्र से पीछे न हटना—उसीमें लीन हो जाना—

बहुत ठीक है। परंतु समुद्र का उसमें एकवृत्ति होना कैसा? जिस समुद्र में सैकडो-हज़ारो नदियाँ गिरती हैं, और जो उन सबके सुख-रस के पान मे अपनी वृत्ति को प्रवृत्त रखता है, किसी को निरास नही लौटाता, उसकी उपमा शकर से देना—शंकर को उपमान मानना—मानो छिपे-छिपे शकर पर बहुपत्नी-प्रेम का आरोप करना है; और साथ-ही-साथ समुद्र की दिल्लगी भी करना है। दिल्लगी क्या, उसे शरमिंदा करना है।"

इसमें क्या शक है? द्विवेदीजी महाराज! आप जो कुछ कहते है, वह बेतरह वाजिब है। आप-जैसे सख़्त अक्लमन्दोके सिवा भला ऐसी कल्पनाएँ कौन कर सकता है? यह आपके ही पाक दिमाग़-का काम है कि वह ऐसी-ऐसी बातें बात-की-बातमें गढ़ डालता है। ख़ैर, अब कहिये कि इस श्लोकके समझनेमें आपने इतनी जल्दी क्यों की? क्या आपने 'सागर' और 'जाह्नवी' शब्दोंपर विशेष विचार नहीं किया? यदि करते, तो ऐसी बेसिर-पैरकी बात ही क्यो मुँह से निकालते! अच्छा सुनिये! कालिदासकी इस उपमामे कुछ भी अनौचित्य नहीं है। "सगरेण कृत: (सागर + अण्) सागर:" सगर-सुतोंके बनाये हुए समुद्रका ही नाम सागर है, सब समुद्रोंका नहीं। उसी प्रकार गङ्गाका सागरसे जिस स्थानपर सङ्गम हुआ है, उसे ही गङ्गा-सागर कहते है। ब्रह्मपुत्रका जहाँ सङ्गम हुआ है, उसे ब्रह्मपुत्र-सागर कोई नही कहता। और न गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि नदियोंके सङ्गम-स्थान ही गोदा-वरी-सागर, कृष्णा-सागर आदि नामोंसे विख्यात है। क्यो, इसका कारण क्या है? जिस प्रकार गङ्गा सागरमे गिरती है, उसी प्रकार तो और नदियाँ भी गिरती हैं, फिर केवल गङ्गा के सङ्गम-स्थानका ही नाम गङ्गा-सागर क्यो हुआ? अत्यन्त प्रसिद्धिके कारण प्रायः ऐसे शब्द रूढ़ि हो जाते हैं। यथा 'पुरी' कहनेसे काशीपुरी, मथुरा-

पुरी आदिको छोड़कर लोग जगन्नाथपुरी ही समझते हैं। वही बात यहाँ भी है। इसी प्रसिद्ध नामको अवलम्बन कर कालिदासने ऊपरवाली उपमा कही है, और यह बहुत उचित है। अन्तमें द्विवेदीजी बड़ा सितम करते हैं। आप कहते हैं—"कविता के मर्मज्ञ रसिकजन ॐ ॐ ॐ ऐसा न समझें, तो न सही, हम अपनी इस टिप्पणी को वापस ले लेंगे।"

ख़ैर, जब द्विवेदीजी अपनी टिप्पणी वापिस लेते है, तो मेरे भी कोई उज़्र नहीं है। मैंने भी जो कुछ कहा है, वह वापिस लिये लेता हूँ।

होलीके हुल्लड़के कारण आज यहीं बस करता हूँ।

(५)

'अनौचित्य-दर्शक उक्ति'के पहले उदाहरणकी चाशनी तो गत सप्ताह दिखा चुका हूँ। अब दूसरेका जौहर भी देख लीजिये। द्विवेदीजीने इस बार 'रघुवंशके' सातवें सर्गके ६३वें श्लोककी ही छीछालेदर की है। उस श्लोकका प्रथमांश यह है—

"ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे
निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः।"

अर्थात् प्रिया(इन्दुमती)ने आस्वादन किया है रस जिस अधरोष्ठका, उसपर रखकर अजकुमारने शङ्ख बजाया।

इसमें द्विवेदीजी असङ्गत और असम्भव बातोंका स्वप्न देखते हैं। आप कहते हैं—"विवाहोत्तर अज अपनी ससुराल में दो-चार दिन भी नहीं रहा। युद्ध होने के पहले मार्ग में भी उसने तीन ही रातें बिताई थी, और शास्त्र की आज्ञा है—'ऊर्ध्वं त्रिरात्रमथवा द्वादशाहं भवेद्व्रती' बारह दिन न सही, तो तीन रात-पर्यंत तो अजको ज़रूर ही ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिए। अतएव उसके अधरोष्ठके लिये 'प्रियोपात्तरस' विशेषण कैसे सार्थक हो सकता है?"

क्यों? इसके सार्थक होने में बाधा कौन डालता है? अजने मार्गमे इन्दुमतीके साथ तीन रातें बितायी थीं। फिर इसमे शङ्का क्यों? क्या तीन रातें कम है?

बाक़ी रही शास्त्रकी आज्ञा, सो अजके लिये उसका मानना कुछ ज़रूरी न था। विधि-वाक्य तो बहुत हैं, पर सब कोई क्या उनका पालन करते हैं? कभी नहीं। फिर अज ही उसके लिये क्यों लाचार किया जाय? कालिदास तो काव्य लिख रहे हैं, कुछ धर्म-ग्रन्थ नहीं। फिर वह अस्वाभाविक बातें क्यों लिखने लगे? समाजकी रीति-नीतिका उन्हें जैसा अनुभव था, वैसा उन्होंने लिखा। यदि वह इसके विरुद्ध कुछ लिखते, तो वह ज़रूर असङ्गत और असम्भव कहाता। अजको जाने दीजिये; आपही बताइये कि आपने विवाहके बाद कितने दिनों तक ब्रह्मचर्य्य धारण किया था? दुहाई महाराजकी! सच कहियेगा। एक बात और भी है। इस मौक़ेपर 'ऊर्ध्वं त्रिरात्रमथवा'की दुहाई देना अकाण्ड ताण्डवके सिवा और कुछ नहीं है।

द्विवेदीजी पुनः कहते हैं—"प्रिया के द्वारा अज के अधरोष्ठ-'रस का पान अस्वाभाविक-सा है। नवविवाहिता इंदुमती में इतना शीघ्र इतनी प्रौढता और प्रगल्भता नहीं आ सकती।"

वजह क्या है हुज़ूर! जो नहीं आ सकती? क्या आप इन्दुमतीको मुग्धा समझते हैं? यदि आप ऐसा समझते हों, तो भूलते हैं। वह स्वयंवरके समय कदापि मुग्धा नहीं थी। यदि होती, तो सब राजाओंको छोड़कर अजको ही कैसे वरण करती? मुग्धाको इस बातकी परख कहाँ? इसके सिवा सुनन्दा इन्दुमतीको सम्बोधन कर कहती है—

"यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारि विहारकाले;
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति।"
(रघु० सर्ग ६, श्लोक ४८)

"अनेन सार्द्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु ;
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवामरुद्भिः ।"
(रघु० सर्ग ६, श्लोक ५७)

"ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ;
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ।"
(तथा ६४)

यदि इन्दुमती मुग्धा होती, तो सुनन्दा ऐसी-ऐसी बातोंसे कभी उसके मनको आकृष्ट करनेकी चेष्टा न करती। ख़ैर, इन्हें भी जाने दीजिये। आगे चलकर स्वयं कालिदास कहते हैं—

"ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनू कृत्य नरेन्द्रकन्या ;
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत् संवरणस्रजेव ।"
(रघु० सर्ग ६, श्लोक ८०)

द्विवेदीजी महाराज, अब आपही कहिये कि इन्दुमती क्या थी ? अगर उसमें प्रगल्भता और प्रौढ़ता न होती, तो 'लज्जां तनू कृत्य' अर्थात् लज्जाको कम करके अजकी तरफ वह कैसे देखती ? क्या मुग्धा ऐसा कर सकती है ?

'रघुवंश'के सातवें सर्गका २५वाँ श्लोक इस प्रकार है—

"नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ;
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ।"

इसमें 'लज्जावती'-शब्द देखकर द्विवेदीजी बड़े ही प्रसन्न हुए है। आप कहते हैं—"जब इंदुमती लज्जावती है, तब उसका अज के अधरोष्ठ को आस्वादन करना असंभव और असगत है।" अफ़सोस है कि इतनी मोटी बात भी द्विवेदीजीके ख़याल शरीफ़ में नहीं आयी! लज्जावती स्त्रियाँ क्या अपने पतिसे भी दिल खोलकर नहीं बोलती हैं ? महाराजजी ! लज्जावतीका वह भाव नहीं है, जो आपने समझ रखा है। इस 'लज्जावती' विशेषणसे

आप इन्दुमतीका मुग्धात्व सिद्ध नहीं कर सकते है ! गुरुजनोंके सामने सब स्त्रियाँ ही लज्जावती होती है । मेरा मतलब अपने देशकी कुल-स्त्रियोंसे है । कलकत्ता मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूशनके प्रिंसिपल श्रीयुक्त सारदारञ्जन राय एम्० ए० अपनी (रघुवंशकी) टीका-में 'लज्जावती'पर इस प्रकार टिप्पणी करते है—The bashfulness was caused by the consciousness of the new life she was abuot to enter नये जीवनके आरम्भका परिज्ञान ही इन्दुमतीकी लज्जाका कारण है, और कुछ नहीं । इसी सातवें सर्गके उनसठवें श्लोकसे भी आपकी बात पुष्ट नहीं होती है; क्योंकि प्रौढ़ा और प्रगल्भा कुलवधू भी सबके सामने पतिसे सम्भाषण नहीं करती है । इसीसे इन्दुमतीने सखियोंकी वाणीसे अजका अभिनंदन कराया है ।

'रघुवंश'के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ सूरिने 'उपात्तरसे' पदका अर्थ 'आस्वादितमाधुर्यै अतिश्लाघ्ये इति भावः' लिखा है । इसपर द्विवेदीजी बिगडकर कहते हैं—"इन बेचारों (टीकाकारों) से विवादास्पद पदों का जब और किसी तरह समर्थन न हो सका, तब लिख दिया 'अतिश्लाघ्ये इति भाव.' ।"

सचमुच मल्लिनाथने बड़ा खोटा काम किया । कालिदासको दो चार उलटी-सीधी सुनानी थी । पर ऐसा न कर उसने कालिदासकी और तारीफ़ कर दी । भला ऐसी मूर्खता मल्लिनाथको क्यों सूझी ? ख़ैर, द्विवेदीजी ! आप अपनी ओर देख मल्लिनाथका यह क़ुसूर माफ़ कर दीजिये ।

अपनी बातको मज़बूत करनेके लिये अन्तमें द्विवेदीजी कहते हैं—"यदि कोई किसी के होंठ पर ज़बरदस्ती अंगूर रखकर हटा ले, और फिर यह कहने लगे कि देखो, इसने अंगूर के रस का—उसके माधुर्य का—आस्वादन कर लिया, तो विचार करने का स्थल है, उसकी बात कहाँ तक सार्थक मानी जा सकेगी ।"

पर यहाँ तो वह बात नहीं है। यहाँ तो मामला ही दूसरा है। यह विषय ऐसा है कि मैं स्पष्ट कुछ नहीं कह सकता, नहीं तो मैं खोलकर अच्छी तरह समझा देता। ख़ैर, तो भी इतना लिखे देता हूँ कि जब अज और इन्दुमती तीन दिन साथ रह चुके हैं, तब 'उपात्तरसेऽधरोष्ठे'के सम्बन्धमें सन्देह करना वृथा है।

अब एक प्रश्न यहाँ और उठ सकता है कि इस स्थानपर 'उपात्तरसेऽधरोष्ठे' लिखनेकी ज़रूरत ही क्या थी। कहाँ युद्धका वर्णन और कहाँ यह शृङ्गार-रस-सम्बन्धिनी चेष्टा? क्या कालिदासने भङ्ग पी ली थी? नहीं! कालिदासने जान-बूझकर लिखा है, और इसका कारण है।

मल्लिनाथ कहते हैं—"सुरतसमरयो. समरसत्वं व्यज्यते" इसीसे माघ कविने भी अपने 'शिशुपाल-वध' काव्यके १७वे सर्गके ११वें श्लोकमें लिखा है—

"विचिन्तयन्नुपनतमाहव रसादुरःस्फुरत्तनुरुहमग्रपाणिना ;
परामृशत्कठिनकठोरकामिनी कुचस्थलप्रमुषितचन्दनं पृथुः।"

अतएव 'अधरोष्ठ-पान' का प्रसङ्ग असङ्गत और असम्भव नहीं है।

(६)

श्री१०८ पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदीने चौथे प्रहारमें कालिदासके 'रस-सम्बन्धी अनौचित्य'का आविष्कार किया है। इसमें द्विवेदीजीके मग़ज़-शरीफ़ की कुछ भी बहादुरी नहीं है। क्षेमेन्द्रके 'औचित्य-विचार-चर्चा'में जो कुछ है, उसीकी नक़ल द्विवेदीजीने अपनी मरोड़दार भाषामें, बड़ी ख़ूबीके साथ, कर दी है। अगर द्विवेदीजी क्षेमेन्द्रका हवाला दे देते, तो मुझे तकलीफ न करनी पड़ती। पर आपने ऐसा न किया। इसीसे अपने-जैसे विचारवालोंके मनोरञ्जनके लिये क़लम उठाता हूँ।

बात यह है कि कालिदासने वसन्त-वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा है—

"वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ;
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखीविश्वसृजः प्रवृत्तिः ।"

यह 'कुमारसम्भव'के तीसरे सर्गका २८वाँ श्लोक है। इसका सारांश यह है कि कर्णिकारका रङ्ग अच्छा है, पर उसमें सुगन्ध नहीं है, इससे दुःख होता है। अक्सर देखा गया है कि ब्रह्मा किसी एक पदार्थमें सब गुण एकत्र उत्पन्न नहीं करता है। बस, इसपर द्विवेदी-जीने बिगड़कर बेचारे कालिदासकी धज्जियाँ उड़ा डाली हैं। आप पानी पी-पीकर कहते हैं—"यह उक्ति ऐसी नहीं कि शंकर के अभिलाष-शृंगार का उद्दीपन करनेवाली हो। कनेर का रंग अच्छा होता है। होता होगा। उसमें सुवास का न होना हृदय में दुःख पैदा करता है। करे। ब्रह्मा की आदत है कि जहाँ गुण होते हैं, वहाँ एक-न-एक दोष भी उत्पन्न किए बिना वह नहीं रहता। न रहे। इससे क्या? आप फूलों के गुण-दोष दिखाने तो चले नहीं, और न ब्रह्मा की आदत ही का वर्णन करने चले। × × × × इसी से कहना पड़ता है कि इसमें शृंगार-रस-परिपोषक औचित्य नहीं।"

बहुत ठीक! जब आप-जैसे शुष्क-हृदय काव्यके मर्म्मज्ञ हैं, तब 'शृङ्गार-रस-परिपोषक औचित्य' कब ठहर सकता है। वह तो आपके डरसे कोसों दूर भाग जाता है। आपके शृंगार-रसकी परिपोषकता तो 'फुफकरत मनहुँ नागिन रिसानि' तक ही है, फिर आप इसका भेद क्या जानें? जो रसज्ञ हैं, मर्मज्ञ हैं, विज्ञ हैं, वह जानते हैं कि उक्त श्लोकमें शृङ्गार-रस-परिपोषक औचित्य है, और अच्छी तरह है। कर्णिकारका रङ्ग ही उद्दीपनके लिये काफ़ी है। यदि उसमें सुगन्ध रहती, तो फिर पूछना क्या था? इसी अभावको देखकर कालिदासने दुःख-प्रकाश किया, तो क्या हानि हो गयी? केवल कालिदासने ही नहीं और कवियोंने भी ऐसा ही किया है।

नमूनेके लिये मैं मङ्ख-कृत 'श्रीकण्ठचरितम्' के छठे सर्गका १३वाँ श्लोक नीचे लिखता हूँ। इसमें भी वसन्तका ही वर्णन है—

"विवृण्वता सौरभरोरदोषं वन्दिव्रतं वर्णगुणैः स्पृशन्त्याः ;
विकस्वरे कस्य न कर्णिकारे घ्राणेन दृष्टेर्ववृधे विवादः।"

अर्थात् कर्णिकारमें सुगन्धिका अभाव ही एक दोष है—इस दोषको प्रकट करती हुई नासिकाके साथ नयनोंका—जो कर्णिकारके रङ्गकी प्रशंसा करते थे—बड़ा विवाद बढ़ा। कहाँ वसन्तका वर्णन और कहाँ यह विवाद 'इसमें भी कोई उद्दीपक बात नहीं है, तो भी रसज्ञोंने इस श्लोककी बड़ी प्रशंसा की है। केवल यही नहीं, प्रसन्न होकर कविको 'कर्णिकारमङ्ख' की उपाधि तक दे दी है। 'श्रीकण्ठचरितके टीकाकार जोनराज कहते हैं—

"कर्णिकारस्य वर्णसौभाग्यं सौगन्ध्याभावश्च कविना युक्त्या प्रतिपादित इति कर्णिकारमङ्ख इति प्रसिद्धिः।"

कहिये द्विवेदीजी महाराज। अब आप क्या कहते हैं? क्या यह सब नासमझ थे? मङ्ख कवि तो वसन्त वर्णन करने चला है, फिर बीचमें नाक और आँखोंका झगड़ा क्यों छेड़ बैठा? क्या यह भी कालिदासकी तरह निरङ्कुश है? शायद आप इसे भी वैसा ही समझ लें, तो कृपा कर यह बताइये कि आप तो चले थे कालिदासकी निरङ्कुशता दिखलाने, फिर आपके ऊपर जो 'आरोप प्रकोप और आक्षेप' हुए थे, उनका उल्लेख आपने क्यों किया? अपनी बारह महीनेकी बीमारीका ज़िक्र क्यों किया। कालिदासके काव्योंका इन बातोंसे क्या सम्बन्ध? अगर कुछ हो, तो बता दीजिये।

द्विवेदीजी महाराज! वसन्त-वर्णनके समय कालिदासने कर्णिकारके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, उससे वह निरङ्कुश नहीं हो सकते हैं, और न उनका ऐसा करना बेजा कहा जा सकता है। क्योंकि स्वाभाविक वर्णनका यही दस्तूर है कि जो कुछ सामने आया, उसके

गुण-दोषको कहते चले गये। बाक़ी रही उद्दीपनकी बात, सो ऊपर मैं कही चुका हूँ कि कर्णिकारका रङ्ग ही इसके लिये यथेष्ट है।

द्विवेदीजीने जनवरीकी 'सरस्वती'में जो निरङ्कुशता दिखायी थी, उसका निदर्शन तो हो चुका, अब अगले सप्ताहफ़रवरी की 'निरंकुशता'में हाथ लगाऊँगा।

(७)

श्रीमान्‌पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदीने फ़रवरी और मार्च-की 'सरस्वती'में कालिदासके 'व्याकरण-सम्बन्धी अनौचित्य'का अनुसन्धान कर डाला है। परन्तु इसमें आपकी कुछ भी बहादुरी नहीं है। आपने साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, काव्यानुशासन, औचित्य-विचार-चर्चा आदि ग्रन्थोंकी कुछ बातें अपनी विलक्षण भाषामें आँखें मूँदकर केवल लिख मारी है। ख़ैर, मैं इस परिश्रम-के लिये भी आपको धन्यवाद देनेके लिये प्रस्तुत हूँ। द्विवेदी-जी महाराजके लिखे हुए अनौचित्योंमें मै यहाँ केवल उनका ही उल्लेख करूँगा, जिनके सम्बन्धमे प्राचीन समालोचकोंका भी मतभेद है।

द्विवेदीजी महाराज अपने लेख नम्बर २का श्रीगणेश इस प्रकार करते है—"कहते सकोच होता है—सकोच क्यों, हम-जैसे निर्बल, अल्पज्ञ और असहाय मनुष्य को डर लगता है कि कालिदास ने अपने काव्यो मे पाणिनीय व्याकरण के नियमों का अनेक बार उल्लंघन किया है।"

किया है, तो निःसङ्कोच भावसे कहिये। सङ्कोच क्यो करते है? आप हैं समालोचक। समालोचकको सङ्कोच कैसा? आप तो समालोचककी उपमा न्यायाधीशसे देते हैं। एप्रिलकी 'सरस्वती'-में आप फ़रमाते हैं—"उसके (समालोचक के) फ़ैसले को सुनकर

कोई प्रसन्न होगा या अप्रसन्न, उसकी निंदा होगी या प्रशंसा, इसकी कुछ भी परवा नहीं करता।" फिर आप क्यों परवा करते है ? क्या आप सच्चे समालोचक नहीं हैं ? यदि हैं, तो फिर सङ्कोच क्यों ?

आप न निर्बल हैं, और न असहाय। जब महामहोपाध्याय पण्डित गङ्गानाथ झा, श्रीबार्हस्पत्य और कृष्णाचार्य प्रभृति-सरीखे विद्वान् आपका पीठपर हैं, तब आप निर्बल और असहाय कैसे है ? इनके अतिरिक्त जब स्वयं कालिदास इन्द्रपुरीसे आपकी पीठ ठोंक रहे है, तब आपको क्यो डर लगता है ? ऐसी अवस्थामें तो आपको निडर होकर निरङ्कुशता दिखानी चाहिये। ख़ैर, अब मतलब की बात सुनिये।

'रघुवंश'के नवें सर्गका छब्बीसवाँ श्लोक इस प्रकार है—

"कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्;
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्।"

इसमें 'तदनु' शब्द द्विवेदीजीको बहुत खटकता है। आप फ़रमाते हैं—"इस श्लोक के दूसरे चरण में 'तदनु' सामासिक शब्द है। पर इस तरह का समास पाणिनीय व्याकरण के मत से निषिद्ध है।"

पर यहाँ समास हो, जब न। मल्लिनाथने यहाँ समास ही नहीं माना है, और न माननेकी आवश्यकता ही दिखाई देती है। मल्लिनाथ अपनी टीकामें लिखते है—'अनुर्लक्षणे इति कर्म प्रवचनीयत्वाद्द्वितीया।' द्विवेदीजी महाराज! टुक ध्यान देकर सुनिये। उक्त श्लोकमें पहले 'ततः' शब्द है। इसका अर्थ है परचात्। ठीक इसी अर्थमें 'तदनु' शब्द भी व्यवहृत हुआ है। यदि आपको विश्वास न हो, तो प्रमाण लीजिये। 'गणरत्न महोदधिकार वर्धमान' ने 'अनु' शब्दके अनेक अर्थोंके उदाहरण दिखाते हुए लिखा है, 'पश्चाद्भावे तदनु'। भवभूतिने 'मालतीमाधव'में 'तदनु' शब्दका इसी

अर्थमें प्रयोग किया है। उसके नवे अङ्कके २६वें श्लोकका द्वितीय चरण यों है—

"आश्वास्यादौ तदनु कथये माधवीयामवस्थाम्।"

इसपर टीकाकार जगद्धर कहते है 'प्रथमं तां प्रबोध्याथ माधवदशां कथयिष्यसि' अथका अर्थ 'अनन्तर' अत्यन्त प्रसिद्ध ही है। अतएव द्विवेदीजी महाराज! 'तदनु'में व्याकरण-सम्बन्धी अनौचित्य नहीं है।

अच्छा, यह तो बताइये कि 'रामायण' और 'बूँद'को पुलिंग सिद्ध करनेके लिये आपने व्यवस्थापत्र सङ्ग्रह कर लिये हैं या नही? यदि नहीं, तो कृपा कर शीघ्र कर लीजिये।

आज यही बस करता हूँ।

(८)

द्विवेदीजी महाराज हेमाद्रि और चारित्रवर्धनके घोर अनुयायी मालूम होते हैं। वह जो कुछ लिख गये हैं, उसे द्विवेदीजी पत्थरकी लकीर समझते है। इसका प्रमाण 'जीवितापहा' है। रघुवंशके आठवें सर्गका ४६वाँ श्लोक है—

"स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहता न हन्ति माम्;
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।"

इसमें 'जीवितापहा' पद द्विवेदीजीको असाधु मालूम होता है, आप अपना आल्हा इस प्रकार गाते हैं—

"इसमें 'जीवितापहा' पद की साधुता अथवा असाधुता के विषय-में मल्लिनाथ तो चुप हैं, पर हेमाद्रि और चारित्रवर्धन ने आक्षेप किया है। प्रथम का कहना है—

इत्ययं शब्दः चिन्त्यः। 'अपे क्लेश तमसो' इति डस्य विधानात्। क्लेशरागतमोदर्पदुःखरोगज्वरादिषु; डः कर्मस्व पहन्तेः स्याद् ध्यातः पापापहः शिवः। इति गणदर्पणोक्तेर्घटते।

'जीवितापहा' में अप उपसर्ग-पूर्वक हन्धातु से ड-प्रत्यय किया

गया है। पर यह प्रत्यय पाणिनि की आज्ञा के अनुसार क्लेश, राग, तम आदि शब्दों के योग में होता है, जीवित शब्द के योग में नहीं। इसीसे हेमाद्रि इस प्रयोगको चिन्त्य समझते हैं।"

और इसीसे आप भी समझते हैं। अगर न समझते, तो अन्ध भक्तिमें बट्टा लग जाता, और कालिदासकी 'निरङ्कुशता' दिखलाकर दुनियामें नाम पैदा करने का मौक़ा भी शायद हाथ न लगता। द्विवेदीजी महाराज! यहाँ आप क्या, आपके उस्ताद लोग भी भ्रममे पड़े हैं! पाणिनिको दुहाई देकर आपके गुरुओंने आपको और भी भ्रममें डाल दिया है! आँखें मूँदकर नक़ल करनेवालोंकी प्राय यही दशा होती है!

अच्छा, पाणिनिका तो यही सूत्र है न कि "अपे क्लेशतमसोः" (३।२।५०) अर्थात् अपके साथ 'हन्' धातुसे अनाशीरर्थमें केवल क्लेश और तमः शब्दोंके योगमें ड प्रत्यय होता है। जैसे 'तमोऽपहः सूर्यः ; क्लेशापहः पुत्रः; बस' इन दो शब्दोंके सिवा और किसी शब्दके साथ 'अपह'का योग पाणिनिकी आज्ञाके विरुद्ध है। क्योंकि पाणिनिकी एक आज्ञा और भी है "स्वंरूपं-शब्दस्याशब्द सज्ञा" अर्थात् व्याकरणशास्त्रमें जिस शब्दका नाम लिया जाय, उसीका ग्रहण हो, दूसरेका नहीं, जैसे 'अग्नेर्ढक्' इस सूत्रके अनुसार केवल अग्नि शब्दसे ही ढक् प्रत्यय होगा, तद्वाचक वह्नि-हुताशन आदि शब्दोंसे नहीं। अतएव गणदर्पणकार हला-युधकी उक्ति पाणिनिके नितान्त प्रतिकूल है। 'राग' शब्दके साथ 'अपह'का योग पाणिनिके अनुसार बतलाना अनभिज्ञताका काम है। जिन्हें पाणिनिका कुछ भी ज्ञान है, वह ऐसी ऊटपटाँग बातें कभी नही कह सकते हैं। क्लेश और तमःके सिवा और शब्दोंके साथ 'अपह'का योग पाणिनिके आज्ञानुसार हो ही नही सकता है। अन्य शब्दोके साथ जहाँ कहीं योग हुआ है, वह सब पाणिनिकी आज्ञाके विरुद्ध है।

आगे चलकर द्विवेदीजी एक बड़ी मज़ेदार बात कहते हैं—"कालिदास ने और स्थलों पर इस (ड) प्रत्यय का ठीक प्रयोग किया है । रघुवंश के सत्रहवें सर्ग के इकसठवें श्लोक में है 'पर-कर्मापहः' × × × और उन्नीसवें सर्गके उनतालीसवें श्लोकमें 'अन्वभुङ्क्त सुरतक्लमापहाम्' आदि ।"

यह प्रयोग किसकी आज्ञासे ठीक है ? पाणिनिकी या आपकी ? पाणिनिकी आज्ञासे तो केवल क्लेश और तमःमें 'अपह' जुड़ सकता है । तब इसे आपकी ही आज्ञा मान लेनी चाहिये; परन्तु आपने तो केवल क्लेश, राग, तम आदि शब्द ही बताये हैं । इनमें न तो 'परकर्म' ही है, और न 'क्लम' ही है । शायद 'आदि' के अन्तर्गत हों, तो फिर 'आदि'में 'जीवित' शब्दको क्यो नहीं मानते हैं । बेचारे 'जीवित'ने ऐसा क्या अपराध किया, जो उसे आप 'अपह'के साथ मिलने नहीं देते है ?

महाराजजी ! आप इस प्रयोगको भले ही असाधु समझ लें, पर प्राचीन विद्वान् इसे असाधु नहीं समझते थे । महाभाष्यकार पतञ्जलिको इसकी साधुता स्वीकृत थी । 'अमनुष्य कर्तृके च' (३।२।५३) पर महाभाष्य देख लीजिये । मनुस्मृतिमे लिखा है 'सुपरीक्षितमन्नाद्य-मद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ।' फिर पञ्चतन्त्रमें भी लिखा है 'न दंशमशकाप-हम्' । इससे सिद्ध होता है कि 'जीवितापहा' चिन्त्य नहीं है, और न 'परकर्मापहः' तथा 'क्लमापहाम्' पाणिनिके सूत्रके अनुकूल है । यदि शुद्ध हैं, तो तीनो हैं; नहीं तो एक भी नहीं है ।

समालोचक-शिरोमणि पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदीने कालि-दासकी निरङ्कुशता दिखाने मे अपने जानते कोई बात उठा नहीं रक्खी है । यहाँ तक कि कालिदासके काव्योसे 'नाम-सम्बन्धी अनौचित्य'का भी एक उदाहरण आप टटोल लाये है । इसमें आपको कुछ भी श्रम करना नहीं पड़ा है । महाकवि क्षेमेन्द्रने अपने 'औचित्य-

विचार-चर्चा'में जो कुछ इस विषयमें लिखा है, उसीकी नक़ल आपने "मक्षिका स्थाने मक्षिका' कर दी है।

कालिदासने 'कुमार-सम्भव'में मदनके भस्म होनेका वर्णन यों लिखा है—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ;
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा
भस्मावशेषं मदनं चकार।

इसका तात्पर्य यह है कि आकाश में देवतागण जब तक यह कहें कि प्रभो क्रोध न कीजिये, तब तक भवके (महादेवके) नेत्रसे निकली हुई अग्निने मदनको जलाकर भस्म कर डाला। इस श्लोकमें 'भव'-शब्दका प्रयोग द्विवेदीजीकी रायसे अनुचित है। आप छाती ठोंककर कहते हैं—

"यह भव शब्द उत्पत्तिवाचक है। उसी का प्रयोग इस पद्य में कालिदास ने किया है। पर, यह प्रसंग उत्पत्ति का नहीं, नाश का है। अतएव संहारवाचक हर शब्द के प्रयोग की ही यहाँ अपेक्षा थी। उसका प्रयोग नहीं किया गया। इस कारण इस श्लोक में नाम-सबंधी अनौचित्य आ गया।"

कहाँसे आ गया—झाँसीसे या और कहींसे? यह अनौचित्य बेतरह आपके पीछे पड़ा है। आप जहाँ जाते हैं, वहीं यह शैतान आपको सतानेके लिये पहुँच जाता है। अच्छा! अब आप घबराइये मत। मैं उसे भगा देता हूँ। आप इस मन्त्रको याद कर लीजिये, फिर वह आपके पास कभी फटकेगा भी नहीं। लीजिये सुनिये! 'भवसे' मतलब यहाँ शिवका है। इसमें औचित्य या अनौचित्य कुछ भी नही है। अगर व्युत्पत्तिकी तरफ़ आप जाते हैं, तो उधर भी वह संहारवाचक ही है, उत्पत्तिवाचक नही। 'भू सत्तायां' से

भव नहीं बना है। वह बना है 'भू प्राप्तौ' (चुरादि) से। जो संहाररूपसे एक दिन सबको प्राप्त होता है, वही देवोंका देव महादेव 'भव' कहाता है। रुद्रका नाश—कर्तृत्व ही प्रसिद्ध है, जन्मदातृत्व नहीं। भानुजी दीक्षितने भी अपनी अमरकोशकी व्याख्यामें 'भू प्राप्तौ'के सिवा और व्युत्पत्तियोंको दूषित बताया है। अतएव यहाँ नाम-सम्बन्धी अनौचित्य नहीं है। कहिये, अनौचित्य भाग गया न ? देखिये, कैसा अच्छा मन्त्र है ! आप व्यर्थ ही भयभीत हो रहे थे।

आगे द्विवेदीजी और भी कमाल करते हैं। आप कहते हैं कि अगर किसी लड़केका नाम उदारराम हो, और पीछे वह नामी चोर हो जाय, तो उसका नाम चोरदास होना चाहिये, उदारराम नहीं। उदारराम कानोंमें खटकेगा।

द्विवेदीजी महाराजका यदि यही सिद्धान्त है, तो आजसे द्विवेदीजीका नाम 'महावीरप्रसाद' न होकर 'संपादकप्रमाद' अथवा 'निरंकुशताप्रसाद' होना चाहिये, क्योंकि आप 'सरस्वती'के सम्पादक और 'निरंकुशता'के लेखक हैं !

(६)

श्रद्धास्पद द्विवेदीजी महाराज अनौचित्यके मारे हैरान हैं ! एकसे जब तक पिण्ड छूटता है, तब तक दूसरा आपके सामने आ खड़ा होता है। अनौचित्यकी मानो बं फूट निकली है। अबके आप इतिहाससम्बन्धी अनौचित्यके फेरमें पड़े हैं। रघुवंशके तीसरे सर्गके पचासवें श्लोकने ही यह आफ़त खड़ी की है—

अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा
पितुस्त्वदीयस्य मयापहारितः ;
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः
पदं पदव्यां सगरस्य सन्ततेः ।

अर्थात्—"इसी से कपिल का अनुकरण करनेवाले मैंने तेरे पिता के इस घोड़े का हरण किया है। इसे छिना लेने का [छीन लेने-का—कहिये जनाब!] प्रयत्न व्यर्थ है। देख, कहीं सगर की संतति के मार्ग में पैर न रखना।"

इसमें 'कपिलानुकारिणा' - पद द्विवेदीजीको इतिहासके विरुद्ध मालूम होता है, क्योंकि सगरके घोड़ेको इन्द्रने ही चुराया था। कपिलने नहीं। उन्होंने तो सगरके सुतोंको केवल भस्म किया था। अतएव यहाँ घोड़ा चुरानेके सम्बन्ध में इन्द्रका अपनेको 'कपिलानुकारी' कहना अनुचित है। बस, इसीको द्विवेदीजी ऐतिहासिक अनौचित्य कहते है!

पर मेरी समझसे यहाँ अनौचित्य नहीं, बल्कि औचित्य है। कालिदासने इन्द्रके मुखसे जो 'कपिलानुकारिणा मया यमश्वो-पहारितः' कहलाया है, वह बहुत उचित हुआ है। इससे कालिदास-की दूरदर्शिता तथा विज्ञता प्रकट होती है। यह उक्ति कालिदासके अनुरूप ही हुई है। इन्द्रने सगरका घोड़ा चुराकर कपिलके आश्रममें बाँध दिया। सगरके लड़कोंने कपिलके आश्रममें घोड़ा बँधा देख कपिलको ही चोर समझा। ऐसा समझना उनका वाजिब भी था। कपिलने क्रुद्ध हो, उन्हें वहीं भस्म कर डाला। इन्द्रका काम बन गया। इस बार राजा दिलीपका घोड़ा छूटा है, दिलीपका पुत्र रघु उसका रक्षक है। चतुर-चूड़ामणि इन्द्र फिर घोड़ा चुरा ले चले। नन्दिनीकी कृपासे रघुने इन्द्रको घोड़ा ले जाते देखा। बस, उसने इन्द्रको ललकारा। इन्द्रने सोचा कि यों ही काम निकल जाय, तो व्यर्थ झगड़ेसे क्या मतलब; और ऐसा सोचना होशियारोंका काम भी है। इसलिये इन्द्रने पहले समझाया। पीछे धमकाकर कहा 'कपिल की तरह मैंने घोड़ा चुराया है। ख़बरदार, सगर के लड़कों की राह पर मत चलो।' अर्थात् कपिल-

ने जैसे सगरके लड़कोंको जलाकर ख़ाक कर डाला था, वैसे ही मैं भी कर दूँगा। अब सोचने की बात यह है कि इन्द्र ही तो यह सब चालें चल रहे हैं। वह स्वयं भला कैसे कह सकते है कि सगर-का घोड़ा मैंने ही चुराया था, और चालाकीसे सगर-सुतोंको जलवा दिया। अपना भेद वह आप ही क्यों खोलने लगे? अपने मुँहसे अपना दोष क्यों प्रकट करने लगे? इसमें उनका क्या फ़ायदा था? कुछ भी नहीं। इन्द्रने सचमुच यहाँ बड़ी चालाकी की। रघुको धमका भी दिया, और आप निर्दोष बने रहे। संसार कहता है कि सगरका घोड़ा इन्द्रने चुराया, पर वह इस बातको क्यों क़बूल करने लगे। वास्तवमें कालिदासने इन्द्रके मुँहसे 'कपिलानुकारिणा' कहलाकर कमाल किया है। बस, इसी एक पदसे इन्द्रके चरित्रका पता लग जाता है। इसमें ऐतिहासिक अनौचित्य नहीं, वरञ्च कालिदासका नैपुण्य है।

मेट्रोपोलिटन् कॉलेजके प्रिन्सिपल श्रीयुत सारदारञ्जनराय एम्० ए० अपनी टीकामें 'कपिलानुकारिणा' पर इस प्रकार टिप्पणी लिखते हैं—

Indra means that as he is now imitating Kapila, he will destroy Raghu as Kapila did the sons of Sagara in former times.

Indra evidently sees the weakness of his argument, and consequently now tries to see if intimidation would, make Raghu desist from the attempt

सारांश—इन्द्रके कथनका अभिप्राय यह है कि जैसे कपिलने सगर-पुत्रोंको भस्म किया था, वैसे ही मैं रघुको करूँगा।

इन्द्रने अपनी युक्तिकी दुर्बलता देखकर भय प्रदर्शन किया। उन्होंने सोचा कि शायद धमकानेसे रघु भाग जाय।

राय महाशय-जैसे विद्वान्की रायसे भी इसमें इतिहास-सम्बन्धी अनौचित्य नहीं है।

मार्चकी 'सरस्वती'में द्विवेदीजीने 'यति-भंग'-दोषका द्वार पहले खोला है। रघुवंशके चौदहवें सर्गके चालीसवें श्लोकको यह महत्त्व प्राप्त हुआ है। वह इस प्रकार है—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु
लोकापवादो बलवान् मतो मे;
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वे-
नारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः।

इसमें 'मलत्वेन' एक पद है, इसका 'मलत्वे' यह एक अंश तो तीसरे चरणमें रहा और 'न' चौथेमें चला गया, इसलिये द्विवेदीजी कहते हैं कि यहाँ यतिभङ्ग है। पर मुझे इसमें सन्देह है। साहित्य-दर्पण, काव्यप्रकाश, काव्यानुशासन तथा औचित्य-विचार-चर्चामें इसका समुचित उल्लेख नहीं है, तब यह स्वयम् महावीरजीकी महा-उद्भावना होगी, अथवा नन्दर्गीकर आदि सज्जनोंकी! चाहे जिसकी हो, परीक्षा किये बिना मैं इसे अङ्गीकार नहीं कर सकता।

वामन पण्डित बड़े ही प्राचीन आलङ्कारिक हैं। काव्यप्रकाशादि ग्रन्थोंमें इनका नाम आया है। इनका मान सूत्रकारोंके-जैसा है। इन्होंने भी उक्त श्लोक में यतिभङ्ग-दोष नहीं माना है। यह अपने काव्यालङ्कार-सूत्रोंमें यतिभङ्गका लक्षण यों लिखते हैं 'विरस विरामं यतिभ्रष्टम्'। अर्थात् जिसमे विरस-श्रुतिकटु विराम हो, वह यतिभ्रष्ट कहाता है। इसके बादका सूत्र है 'तद्धातु नाम भाग भेदे स्वर सन्ध्य-कृते प्रायेण' अर्थात् वह यतिभ्रष्ट धातुभागको और नामभागको अलग करनेसे होता है; और स्वय सन्धि जहाँ होना चाहिये, वहाँ न होनेसे प्रायः होता है। आगे वामन पण्डित और भी कहते हैं 'धातु नाम भाग पद ग्रहणात्तद्भागातिरिक्त भेदेन भवति यतिभ्रष्टत्वम्' अर्थात्

सूत्रमें धातु नाम भाग इस पदके ग्रहण करनेसे उस भागके अतिरिक्त और किसी भागके पृथक् होनेपर यतिभ्रष्टत्व नहीं होता है। यथा 'विनिद्रः श्यामान्तेष्वधरपुष्ट सीत्कार विरुतैः।' यह शिखरिणी छन्द है। 'रसै रुद्रैश्छिन्ना' इत्यादि लक्षणसे इसकी यति 'श्यामान्ते' पर होती है, परन्तु पद है 'श्यामान्तेषु'। इसका 'षु' दूसरे चरणके 'अधर'से जा मिला है। द्विवेदीजी की राय शरीफ़से तो यहाँ भी यतिभङ्ग होना चाहिये, पर प्राचीन आचार्यगण ऐसे स्थानोंमें यतिभङ्ग नहीं मानते। अतएव 'मलत्वेनारोपिता' में भी यतिभङ्ग नहीं है। द्विवेदीजी महाराज! आप क्षेमेन्द्रकी बहुत दुहाई देते हैं! अब टुक उनकी ही यह रचना देख लीजिये, 'प्रत्यग्रोपनताभिमन्यु-निधने हा वत्स हा पुत्रके त्यश्मद्रावि सुभद्रया प्रलपितं पार्थस्य यत्तत्पुरः। 'इत्यादि।' कहिये, इसमे आप यतिभङ्ग मानते हैं या नहीं?

इसके बाद द्विवेदीजी महाराज 'पुनरुक्ति'-दोषका दरिया बहाते हैं। रघुवंशके पहले सर्गके बारहवें श्लोकमें 'राजेन्दु' और 'इन्दु' शब्द आये हैं। इसपर द्विवेदीजी कहते हैं 'यहाँ पर बिना किसी कारण-विशेष के दो बार 'इन्दु' शब्द का प्रयोग किया गया है।'

किया गया, तो हर्ज क्या हुआ? क्या दो अभिन्न शब्दोंका एक पद्यमें आ जाना ही दोष है? यहाँ राजेन्दु और इन्दु दो भिन्न अर्थों में व्यवहृत हुये हैं। मल्लिनाथ 'राजेन्दु 'का अर्थ 'राजश्रेष्ठः' लिखते है।

द्विवेदीजीने पुनरुक्ति-दोपके और कई उदाहरण दिये हैं। उनमें एक और की चर्चा यहाँ करता हूँ। इससे द्विवेदीजीके पाण्डित्य का पूरा पता लग जाता है। इस विषयमें आपने जो कुछ लिखा है, वह इस प्रकार है—'अच्छा, अब, एक और तरह की पुनरुक्ति देखिए। रघुवंश के आठवें सर्ग का चालीसवाँ श्लोक है—

अथवा मम भाग्य विप्लवात्;
अशनिः कल्पित एष वेधसा;

यदनेन तरुर्न पातितः
क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता।

गुस्ताख़ी माफ़—यह चालीसवाँ नहीं, सैंतालीसवाँ श्लोक है। श्लोककी संख्या लिखनेमे भी यह आफ़त! ख़ैर, अब द्विवेदीजी इसपर क्या इरशाद फ़रमाते हैं, वह भी सुनने लायक़ है। आप कहते हैं, 'यहाँ इस पद्य में 'तरु' और 'विटप' ये दो शब्द आए हैं; और विटप के पहले 'तत्' शब्द भी आया है। ध्यान में नहीं आता कि एक बार तीसरे चरण में 'तरु' का प्रयोग करके चौथे चरण में फिर भी तरुवाची 'विटप' शब्द की क्या ज़रूरत थी। इत्यादि।'

बहुत ज़रूरत थी। आपके ध्यानमें यह नहीं आया, तो लाचारी है। महामहिमामय महाराजजी! 'विटप' तरुवाची शब्द कबसे हुआ? विटपका अर्थ वृक्ष आपको कहाँ मिल गया? इसका पता बता देते, तो बड़ी कृपा होती। मैं तो विटपके माने शाखा ही जानता हूँ। मेरे जाननेका कारण भी है। अमरकोशमें लिखा है 'विस्तारो विटपोऽस्त्रियाम्'। (द्वे शाखादि विस्तारस्य—टीकाकार भानुजी दीक्षित)। 'मेदिनी'का वचन है 'विटपो न स्त्रियां स्तम्ब शाखा विस्तार पल्लवे। विटाधिपेना।' रभसकी उक्ति है 'शाखायां पल्लवे स्तम्बे विस्तारे विटपोऽस्त्रियाम्।' 'काव्य'का कथन है "स्कन्धादूर्ध्वं तरोः शाखा कटपो (कटपो) विटपो मतः।' शब्द-कल्पद्रुममें लिखा है (वेटति शब्दायते इति। विट + "विटपपिष्ट-पवि शिपोलपाः।" उणा ३। १४५ इति क प्रत्ययेन निपातनात् साधुः।) शाखापल्लवसमुदायः। पल्लवः इति शब्दरत्नावली। तथा ऋतुसंहारे। १२४।

"तरु विटपलताग्रालिङ्गनव्याकुलेन
दिशिदिशि परिदग्धा भूमयः पावकेन।"

द्विवेदीजी अँगरेज़ विद्वानोंकी बात कुछ अधिक मानते है, इसलिये मैंने H. H. Wilson साहबकी संस्कृत-डिक्शनरी भी देख डाली है। उसमें विटप (विट्: a branch, पा to cherish with क प्रत्यय) (1) the branch of a tree with new sprout and shoot. (2) A branch. इत्यादि।

जान पड़ता है, द्विवेदीजी महाराज अनौचित्य समुद्रमें ग़ोते लगाते-लगाते बेहोश हो गये हैं। इसीलिये विटपिन और विटपमें कुछ अन्तर नहीं समझते। वृक्षवाचक शब्द 'विटपिन' है विटप नहीं—यथा 'वृक्षोमहीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः" इत्यमरे। कहिये, अब "विटप शब्द को क्या ज़रूरत थी" यह आपके "ध्यान में आता है" या नहीं ? अगर न आता हो, तो मुझसे सुन लीजिये। 'विटप'के आनेसे अर्थ सङ्गत और सुन्दर होता है। इन्दुमती लता है, अज वृक्ष—अजके अङ्ग विटप [शाखा] हैं। अतएव 'तद्विटपाश्रिता लता'में न पुनरुक्ति है और न अधिकपदत्व। अगर कुछ है, तो वह आपकी भ्रान्ति है।

(१०)

माननीय पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी महोदय अपनी 'निरंकुशता'का उपसंहार बड़ा ख़ूबीके साथ करते है। इसमें आपके विलक्षण चातुर्यका प्राचुर्य है। आप सबको सावधान करके आदेश करते है—"बस, अब यहीं पर; (यहाँ सेमीकोलन क्यों ?) इस लेख को समाप्त करते है। + + + यदि कोई इन दोषों के निराकरण करने का प्रयत्न करे, तो यह समझना चाहिए कि उसने इन सारे प्राचीन विद्वानों को परास्त करने की चेष्टा करने का साहस किया है !"

ज़रूर समझना चाहिये। ऐसा समझे विना आपके पाण्डित्यकी

पोल भला कैसे चल सकेगी? बचावका यह ढङ्ग अच्छा है। जो मनमें आया, कह लिया, और पीछे क़सम दे दी। बस, फिर कोई बोलेगा नहीं। अच्छा, यह तो कहिये कि जो इन दोषोंके निराकरण करनेका प्रयत्न करेगा, उसे तो आप प्राचीन विद्वानोंको परास्त करनेका इच्छुक समझेंगे, पर जो इन दोषोंकी उद्भावना करता है या इनका संग्रह करता है, उसे आप क्या समझते हैं? यदि यह भी आप बता देते, तो बड़ी कृपा होती। दुहाई द्विवेदीजी! इसमें टालमटोल न कीजिये, सच्ची बात कह दीजिये।

बाकी रही आलोचनाकी बात, सो जब कालिदासकी समालोचना हो सकती है, तब क्षेमेन्द्र, मम्मटादि किस खेतकी मूली हैं? आलोचनाके समय जैसे कालिदास, वैसे ही मम्मट! यदि आप प्राचीनताका ढोल पीटेंगे, तो मम्मटादिसे कालिदास बहुत प्राचीन हैं। फिर उनकी दोषोद्भावना आपने क्यों की? क्या यह आपकी ज़बरदस्ती नहीं है? क्या कालिदासका दोष निकालना उनको "परास्त करने की चेष्टा करने का साहस करना" नहीं है? यदि नहीं, तो दोषोंके निराकरण करने में भी "परास्त करने की चेष्टा" क्यों?

द्विवेदीजी महाराज!! आपकी 'निरंकुशता'का निदर्शन तो मैं दिखला चुका। अब इसका फ़ैसला, इसका विचार, इसकी मीमांसा, इसकी पञ्चायत, इसका Decision सहृदय विद्वान् पाठकों पर छोड़ता हूँ। वही इसके सुयोग्य जज—विचारक—मुन्सिफ़—पञ्च—मीमांसक हैं। वह जो कुछ कह दे, उसे हम दोनोंको मान लेना चाहिये। व्यर्थकी बकवादसे कुछ लाभ नहीं। पाठकोंसे मुझे कुछ कहना नहीं ह। वह जैसा मुनासिब—उचित—वाजिब समझेंगे, करेंगे। परन्तु द्विवेदीजीसे एक विनय है—प्रार्थना है—निवेदन है—आरज़ू है—मिन्नत है। यदि आप अनुग्रह—अनुकम्पा—अनुक्रोश—दया—कृपा—मेहरबानी कर इस पर ध्यान देंगे, तो मैं अपनेको धन्य मानूँगा।

द्विवेदीजी महाराज! सुना है, आप समालोचनाके बड़े प्रेमी हैं, और समालोचक होनेका दम भरते है। आप औरोंकी समालोचना तो ख़ूब करते हैं, पर जब आपकी आलोचना कोई करता है, तब आप जामेसे बाहर हो जाते हैं। क्या यह सत्य है? यदि है, तो इसका कारण क्या है? आपको कालिदासकी 'निरंकुशता' दिखाने-का मजाज़ है, तो क्या मुझे आपकी भी निरङ्कुशता दिखानेका नहीं है? स्वयं आप एप्रिलकी 'सरस्वती'के १५६वें पृष्ठमें लिखते हैं—'बड़े-बड़े कवि, विज्ञानवेत्ता, इतिहास-लेखक और वक्ताओं की कृतियो पर फ़ैसला सुनाने का उसे [समालोचकको] अधिकार है।' बस, इसीसे तो आप-जैसे बडे कवि और सुलेखककी कृतिपर मैंने फ़ैसला सुनाया है। इसमें मेरा कुछ भी अपराध नहीं है।

आगे आप ही १६०वें पृष्ठ में कहते हैं "इनमें [समालोचनाओं-में] शेक्सपियर के दोष भी दिखलाए जाते हैं। और, दोष भी एक तरह के नहीं, सब तरह के—शेक्सपियर की भाषा के दोष, शेक्सपियर की कविता के दोष, शेक्सपियर के नाटकपात्रों के दोष। पर इन बातो को कोई बुरा नहीं मानता।"

इसीलिये तो मैंने भी आपकी भाषाके दोष, आपकी वाक्य-रचनाके दोष, आपकी समालोचनाके दोष, आपके विचारके दोष दिख-लाये है। पर अफसोस यही है कि आप इन बातोको 'बुरा' मान गये।

एप्रिलकी 'सरस्वती'में श्रीमान् द्विवेदीजीने 'कालिदास की निरंकुशता'पर विद्वानोंकी सम्मतियाँ छापी है। इसपर मुझे एक क़िस्सा याद आता है। एक सज्जन कहा करते थे कि मैं भूतोसे नहीं डरता हूँ। पर जब कभी वह कबरिस्तान या श्मशानके पाससे निकलते, तब सीटी बजाते, गाते और तेज़ीके साथ चलते थे;

जिसमें कोई यह न समझ ले कि वह डरते हैं। बस, आजकल यही हालत द्विवेदीजीकी हो रही है। उधर तो अपने इष्ट-मित्रोंसे कह रहे हैं कि मैं इन तुच्छ समालोचकोंकी परवा नहीं करता, और इधर चुपके-चुपके सम्मतियाँ संग्रह कर छाप रहे हैं। जब परवा नहीं है महाराजजी! तब सम्मतियाँ क्यों बटोर रहे हैं? इसका क्या मतलब है? इसका क्या उद्देश्य है?

इसी प्रसङ्गमें द्विवेदीजी कहते हैं कि कुछ लोगोंका ख़याल है कि "प्राचीन कवियों और ग्रंथकारों की पुस्तकों की समालोचना न होनी चाहिए।" कम-से-कम मेरा ख़याल तो ऐसा नहीं है, और न मैं आलोचना करनेसे किसीको रोकता हूँ। यह आपका ही ख़याल है कि मम्मट प्रभृति प्राचीन टीकाकारोंके विरुद्ध कोई कुछ न कहे।

अन्तमें द्विवेदीजी अपने दिलका ग़ुबार इस प्रकार निकालते हैं "अतएव यदि कोई प्राचीन कवियों के दोष दिखलावे, तो उसकी प्रत्येक उक्ति का खंडन करना चाहिए, चाहे उसके दिखलाए हुए दोष ठीक क्यों न हों, और चाहे उसकी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए अन्याय, असत्य, असभ्यता, पक्षपात, उपहास और परिहास का आश्रय ही क्यों न लेना पड़े। जो लोग द्रोह और दुराग्रह के शिकार बनकर ऐसा कहते और तदनुसार व्यवहार करते हैं, उनसे हमें कुछ नहीं कहना।"

मुझे भी उनसे कुछ नहीं कहना है। मुझे तो सिर्फ़ आपसे पूछना है कि क्या सचमुच कालिदासकी निर्दोषता सिद्ध करनेके लिये अन्याय, असत्य, असभ्यता, पक्षपात, उपहास और परिहासका आश्रय लिया गया है? क्या सचमुच आपके निकाले दोषोंका युक्ति-युक्त खण्डन नहीं किया गया है? क्या सचमुच आपकी बातोंका उत्तर प्रमाण-सहित नहीं दिया गया है? यदि आप कहें, नहीं, तो उसका प्रतिवाद कीजिये, व्यर्थ कोसाकाटी करनेसे क्या फ़ायदा? आप

दूसरोंकी समालोचना तो बड़े शौक़से करते हैं, पर जब आपकी होती है, तब आप बग़लें झाँकते हैं, और गुस्सेके मारे सुध-बुध खो बैठते हैं, इसका क्या कारण है? उसमें आपको द्रोह और दुराग्रह क्यों दिखाई देता है, यह मेरी तुच्छ बुद्धिमें आज तक नहीं आया।

'असत्य, अन्याय, असभ्यतादि'का प्रयोग भी आपकी ही ओरसे होता है। यदि विश्वास न हो, तो चैत बदी १५ सं० १९६७की 'हितवार्ता'में कालिदासका पत्र देख लीजिये। उसमें लिखा है "हिन्दू विद्वान् बड़े भोले हैं, उन्होंने नहीं मालूम, मुझको क्या समझ रक्खा है। जो कोई मेरी त्रुटियाँ दिखाने का प्रयत्न भी करता है, कुछ अज्ञानी लोग, न-जाने क्यों, उसको काट खानेके लिये पागल कुत्ते-की तरह दौड़ते हैं! अभी 'मनसाराम'को ही देखिये न। इसे संस्कृतका तो विशेष ज्ञान नहीं, पर मेरे दोषोंको निर्दोष करनेकी डींग हाँकता है। अरे भाई, महाकाव्योंके दोषोंको निर्दोष सिद्ध करना दल्लालोंका काम नहीं है, इत्यादि।"

यह पत्र कालिदासके नामसे छपा है और उनके ही मुखसे यह वचन कहलाये गये हैं। यह एक बालक भी कह सकता है कि यह पत्र कालिदासका लिखा नहीं है। यह अवश्य ही द्विवेदीजी महाराज या उनके पिट्ठुओंका काम है। अब कहिये, इसमें सरासर "अन्याय, असत्य, असभ्यता, पक्षपात, उपहास और परिहास" है या नहीं? मैं ललकारकर कहता हूँ कि द्विवेदीजी महाराज अगर एक वाक्य भी ऐसा मेरी लेखमालासे निकाल दें, तो मैं आजसे लेखनी ग्रहण न करूँगा, और महाकाव्योंके दोषोंको निर्दोष सिद्ध करना अगर दल्लालों-का काम नहीं, तो महाकाव्योंके दोषोंकी उद्भावना करना भी टेलीग्राफ़-इन्स्पेक्टरोंका काम नहीं है।

मेरी विनय आपसे यही है कि आप बूढ़े हैं, बड़े हैं, विद्वान् हैं,

विवेकी है, विचारवान् हैं, शिक्षित हैं, सभ्य है, सुशील हैं, सज्जन हैं, सौम्य हैं, विज्ञ हैं, अभिज्ञ हैं, विशेषज्ञ हैं, बहुज्ञ हैं, सुज्ञ हैं, आपको अपने हृदयकी इतनी तरलता नहीं दिखानी चाहिये। आपके योग्य यह सब काम नहीं है। कम-से-कम आपको अपनी उम्रकी तरफ़ तो ज़रूर ख़याल करना चाहिये।

मेरा इसमे कुछ अपराध नहीं है। मैंने तो आपका अनुसरण-मात्र किया है। आपके दिखाये हुए पथ पर चला हूँ। बस, अब प्रणाम करता हूँ। ज़रूरत होनेपर फिर कभी आपके श्री-चरणोंके दर्शन करूँगा।

इति।

परिशिष्ट

[क]

(पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी-लिखित)

कालिदास की निरंकुशता

कवि होना कठिन काम है। महाकवि होना और भी कठिन काम है। कवित्व में सिद्धि प्राप्त करने के लिए बहुत पुण्य चाहिए; हृदय में ईश्वरदत्त कवित्व-बीज चाहिए, परिश्रम भी चाहिए, अध्ययन भी चाहिए, मनन भी चाहिए। जो लोग कवि बनने की उच्च आकांक्षा रखते हैं, उन्हें बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अनेक परीक्षाओं में उन्हें उत्तीर्ण होना पड़ता है; अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं, अनेक अवहेलनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। कवित्व-शक्ति बहुत ऊँचे दरजे की शक्ति है। इसी से ईश्वर किसी बिरले ही भाग्यवान को उससे विभूषित करता है।

कवियों ही के नहीं, महाकवियों के भी काम में कभी-कभी अचिंत्य बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। कभी-कभी तो वे दूर हो जाती हैं, कभी-कभी नहीं भी होती है। और, यदि होती भी हैं, तो बहुत तंग होने पर। जो कवि है, और, कवि-कर्म की कठिनाइयों को झेल चुके हैं, वे इस बात को औरों की अपेक्षा अधिक समझ सकते हैं। बहुधा ऐसा होता है कि भाव अच्छा सूझ जाता है, पर उसे प्रकट करने के लिए समुचित शब्द नहीं मिलते। यदि शब्द मिल जाते हैं, तो भाव में न्यूनाधिकता उपस्थित होने लगती

है। उधर छंद न बिगड़ने का ख़याल मारे डालता है। कोई बात देश, काल, स्वभाव और पात्र के विरुद्ध तो नहीं; कहीं शास्त्रीय बातों की सीमा का उल्लंघन तो नहीं हुआ; लोकाचार के विपरीत तो कोई बात नहीं कही गई, ऐसी-ऐसी न-मालूम कितनी बातों का विचार कवियों को पद-पद पर करना पड़ता है। जिस समय कविता करने की इच्छा या कामना उच्छृंखल हो उठती है, उस समय मन में उत्पन्न हुए विकार प्रकट किए बिना नहीं रहा जाता। ऐसे समय में विचारों या विकारों को शब्दरूपी साँचे में ढालने से एक प्रकार का विलक्षण आनंद होता है। उसका अनुभव इतर जन नहीं कर सकते; कवि ही कर सकते हैं। उस प्रमोद-मद में मग्न होकर कवि-जन लोकरीति, शास्त्ररीति और शब्द-शास्त्र आदि के नियमों का कभी-कभी उल्लंघन कर जाते हैं। यह बात जान-बूझकर भी हो सकती है, और वे जाने भी। ऋषियों और मुनियों तक से ये बातें हो सकती हैं, और हुई भी हैं—"मुनीनाञ्च मतिभ्रमः"। आदराधिक्य के कारण टीकाकार और समालोचक लोग कवियों की कविता के अंतर्गत ऐसे-ऐसे स्थलों को भूल या प्रमाद में नहीं गिनते। उन्हें वे कवि की निरंकुशता कहते हैं। महाकवि कालिदास भी इस निरंकुशता से नहीं बचे।

इस लेख का नाम-निर्देश देखकर ही शायद कोई-कोई पाठक बिगड़ बठें। महाकवि कालिदास और निरंकुशता! कविकुल गुरु पर ऐसा गुरुतर दोषारोप!! छोटे मुँह बड़ी बात!!! ऐसा आरोप जो लोग हम पर करें, प्रसन्नता-पूर्वक कर सकते हैं। हम उनके लिये यह लेख नहीं लिखते। जिनके विचार हमारे ही ऐसे हैं, उन्हीं का मनोरंजन हम इस लेख से करना चाहते हैं। विधि-विडंबना और नैषध-चरित-चर्चा लिखने और बाबू हरिश्चंद्र की दो-एक बातों की समालोचना करने के कारण हम पर जो आरोप,

प्रकोप और आक्षेप हुए हैं, उनकी याद हिंदी-साहित्य के प्रेमियों को अब तक बनी होगी। तिस पर भी हम यह लेख लिखने जाते हैं, इसका कारण यह है कि पूर्वोक्त प्रकार के आक्षेपों के हम क़ायल नहीं। खंडन, मंडन और समालोचन की रीति परंपरा से चली आई है। शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट तक ने अपने पूर्वाचार्यों के मत की समालोचना की है, और कभी-कभी बड़े कड़े शब्दों में की है। औरों की तो बात ही क्या, कालिदास के रघुवंश की टीका मल्लिनाथ, हेमाद्रि, सुमतिविजय, वल्लभ और दिनकर मिश्र आदि कितने ही विद्वानों ने की है, और पूर्व-पूर्व टीकाकारों की भूलें दिखलाई हैं। इन लोगों ने यथास्थान कालिदास पर चोटें भी की हैं, और उनके दोषों का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया है। अलंकार-शास्त्र से संबंध रखनेवाले ग्रंथों में तो कालिदास आदि पुराने कवियों की कविता के दोष बड़ी ही निष्ठुरता से दिखाए गए हैं। इस दशा में इन लोगों के दिखलाए या निर्माण किए हुए मार्ग से यदि हमारे समान अल्पज्ञ मनुष्य भी जाने का यत्न करे, तो कोई आक्षेप की बात नहीं। और यदि हो भी, तो हो—

न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते।

यह ख़ुद कालिदास का वचन है।

कालिदास की निरंकुशता के उदाहरण संस्कृत के ग्रंथों में अनेक स्थलों पर दिए जा चुके हैं। तथापि हिंदी में उनका दिया जाना यदि बुरा और पाप समझा जाय, तो ऐसी समझ रखनेवालों से हमारा एक निवेदन है। कालिदास ने रघुवंश के आरंभ ही में लिखा है—

जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।

कालिदास को शंकर-पार्वती का इष्ट था। वे उनके इष्टदेव थे, यह एक बात। दूसरी बात यह कि उन्हें वे सारे संसार का माता-पिता समझते थे। इन्हीं जगत् के पितर और अपने इष्टदेव की

शृंगार-रस-सवधिनी चेष्टाओं का वर्णन कालिदास ने एक साधारण कामुक की तरह कुमारसभव में किया है। अपने माता-पिता के विषय में कोई मनुष्य ऐसी बात मुँह से नहीं निकालता, फिर ससार के माता-पिता के विषय में! क्या यह कालिदास की निरंकुशता नहीं? यदि इस काम को आप पाप या अनुचित कर्म नहीं समझते, तो क्या इसकी गिनती निरंकुशता में भी नहीं कर सकते? अतएव, यदि और किसी कारण से नहीं, तो अकेले इस एक कारण से तो, उनकी निरंकुशताओं की समालोचना अवश्य ही क्षमा की जाने योग्य है। इस तरह की समालोचना कालिदास के इस अनुचित काम का प्रायश्चित्त मान लीजिए। माता-पिता का संभोग वर्णन करनेवाले को क्या इतना भी दड देना मुनासिब नहीं?

मम्मट भट्ट ने तो उत्तम देवता-विषयक संभोग-शृंगार वर्णन को भी महा अनुचित माना है। उन्होंने काव्य-प्रकाश में लिखा है—

रतिः संभोगशृङ्गाररूपा उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया। तद्वर्णनं हि पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्॥

पाठक, विश्वास कीजिए, यह लेख हम कालिदास के दोष दिखलाकर उनमें आपकी श्रद्धा कम करने के इरादे से नहीं लिख रहे हैं। ऐसा करना हम घोर पाप समझते हैं—भारी कृतघ्नता समझते हैं। इसे आप केवल वाग्विलास समझिए। यह केवल आपका मनोरंजन करने के लिए है। कालिदास को हम महाकवि ही नहीं समझते हैं, हम उन्हें देवता समझते हैं, पूजनीय समझते हैं, अपना गुरु समझते हैं। अभी इस एक वर्ष की बीमारी में—और बीमारी अब तक गई नहीं—हमने गीता नहीं पढ़ी, श्रीमद्भागवत का पारायण नहीं किया, वाल्मीकि-रामायण नहीं देखा। जब कभी हमने कुछ पढ़ा है, रघुवंश पढ़ा है। इससे आप जान सकेंगे कि हमारे हृदय में कालिदास का कितना आदर है। और, यह

इसी आदर और अवलोकन का फल है, जो हम यह लेख लिखने बैठे है।

संस्कृत, अँगरेज़ी और फ़ारसी आदि भाषाओं के महाकवियों के काव्य की आज तक अनंत टीकाएँ और आलोचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उनसे इन कवियों की कीर्ति कम नहीं हुई, प्रत्युत बढ़ती ही गई है। और, सच पूछिए तो, इससे उनकी कीर्ति कम हो भी नहीं सकती। वह इतनी उज्ज्वल और व्यापक है कि आलोचनाओं से वह उज्ज्वलतर हो जाती है, उसकी उज्ज्वलता में बाधा नहीं आ सकती। यदि इस तरह का डर होता, तो बड़े-बड़े पंडित और समालोचक क्यों ऐसा काम करते। इन कवियों के यश को लहराता हुआ अगाध सागर समझिए; और इनके निरंकुशत्व और दोष-समुदाय को केवल एक छोटा सा बूँद। उसके दिखलाने से इस रमणीय रत्नाकर का बिगड़ ही क्या सकता है?

सूक्तौ शुचावेव परे कवीनां सद्यः प्रमादस्खलितं लभन्ते;
अधौतवस्त्रे चतुरं कथं वा विभाव्यते कज्जलबिन्दुपातः।

काला धब्बा सफ़ेद ही वस्त्र पर देख पड़ता है, काले पर नहीं।

इस लेख में जिन बातों का उल्लेख किया जायगा, उनमें से कितनी ही बातें कालिदास के टीकाकारों और अलंकार-शास्त्रियों ने अपने-अपने ग्रंथों में यथास्थान पहले ही से लिख दी हैं। किसी ने थोड़ा लिखा है, किसी ने बहुत। अतएव इस लेख में दिखलाए गए निरंकुशत्वों और दोषों के सर्वांश का ज़िम्मेदार, अथवा अपराधी, पाठक अकेले हमीं को न समझें। यह अपराध और लोग बहुत पहले कर चुके हैं। हम तो सिर्फ़ उनके कथन को उचित शब्दों में आपके सामने रखते हैं। हाँ, जो नई-नई उद्भावनाएँ हमने की हैं, उनके लिए अकेले हमीं दोषी हैं। एतदर्थ हम आपसे न्याय की प्रार्थना नहीं करते। हम इस बात का न्याय आपसे नहीं चाहते कि

हमारा यह काम उचित है या अनुचित। हम सिर्फ़ आपसे इस उचित या अनुचित काम के लिए क्षमा चाहते हैं। हम सिर्फ़ आपसे दया के प्रार्थी हैं। हमारी प्रार्थना स्वीकार करना या न करना सर्वथा आप ही के हाथ में है।

(१) उपमा की हीनता

उपमालंकार में और कोई कालिदास की बराबरी नहीं कर सकता। कालिदास ने अपनी उपमाओं में उपमान और उपमेय का ऐसा अच्छा सादृश्य दिखलाया है, जैसा और किसी की उपमाओं में नहीं पाया जाता। इनकी उपमाओं में लिंग और वचन-संबंधी भेद प्रायः कहीं नहीं देखा जाता। उपमा से इनकी वर्ण्य वस्तु इतने विशद भाव से हृदय में अंकित हो जाती है कि इनकी कविता का रसास्वादन कई गुना अधिक आनंददायक हो उठता है। यह सब होने पर भी इनके काव्यों में कुछ उपमाएँ ऐसी देखी जाती हैं, जो इनकी अन्यान्य उपमाओं के मुक़ाबले में बहुत हीन हैं। एक उदाहरण लीजिए—

लवण-नामक राक्षस के अत्याचारों से पीड़ित होकर देवताओं ने रामचंद्र की शरण ली। उन्होंने प्रार्थना की कि इसे आप मारिए। रामचंद्र ने यह काम शत्रुघ्न के सिपुर्द किया। इस विषय में कालिदास रघुवंश के पंद्रहवें सर्ग में कहते हैं—

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः ;
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥ ७ ॥

अर्थात्—अपवाद जैसे उत्सर्ग का व्यावर्तन करने में समर्थ है, वैसे ही रघुवंशियों में से अकेला एक भी शत्रुसंतापकर्ता रघुवंशी वैरियों को रोकने या उन्हें बाधा पहुँचाने में समर्थ है। अब विचार यह है कि उपमा से रघुवंशियों की हीनता सूचित होती है या शक्तिमत्ता। विशेष-विधि को अपवाद कहते हैं, और सामान्य विधि को उत्सर्ग। लिखा है—

भूयो दर्शनमुत्सर्गो बाधस्तस्यैकदेशगः ;
अपवाद. स विज्ञेयो मृग्यो व्याकरणादिषु ।

उत्सर्ग सामान्य-शास्त्र हुआ, अपवाद विशेष-शास्त्र । सामान्य-शास्त्र अधिक व्यापक होता है, विशेष-शास्त्र बहुत कम । पूर्वोक्त उपमा में रघुवंशी अपवादवत् अल्पव्यापक शक्तिवाले माने गए हैं, और उनके शत्रु उत्सर्गवत् विशेषव्यापक शक्तिवाले । अतएव अपने शत्रुओं के मुक़ाबले में रघुवंशी हीन हुए । रघुवशी अपने शत्रुओं की व्यापकता और शक्ति के लिए रुकावट भले ही पैदा करें, पर उनकी अपेक्षा वे कम शक्ति रखनेवाले और कम व्यापक ज़रूर हुए । एक बात और भी है । राजनीति यह है कि छोटे भी शत्रु को बड़ा समझना चाहिए, और उसे निर्मूल करने के लिए कोई बात उठा न रखनी चाहिए । यहाँ पर उपमा के अनुसार रघुवंशियों का शत्रु लवणासुर अधिक शक्ति-संपन्न है । उसका विनाश तो रघुवंशी कर नहीं सकते, उसकी शक्ति को बढ़ने से रोक भर सकते हैं । अतएव रघुवंशियों के लिए यह और भी कलंक की बात हुई । इसी से यह कहने का साहस होता है कि यह उपमा महाकवि कालिदास के अनुरूप नहीं । यह सच है कि शत्रुघ्न ने लवण को आगे चलकर मारा है । पर विचार इसका नहीं किया गया कि आगे चलकर क्या हुआ है । उपमा से जो ध्वनि निकलती है, या उसका जो अर्थ होता है, उसी का विचार किया गया है । और, तदनुसार इस उपमा में बहुत नहीं, तो थोड़ी हीनता अवश्य पाई जाती है ।

कोई वैयाकरण शायद कह बैठें—"सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्" । सही है । सामान्य-शास्त्र से विशेष-शास्त्र बलवान् हो सकता है, पर एक निश्चित सीमा ही तक । सामान्य शास्त्र को यदि आप चक्रवर्ती राजा मानें, तो विशेष-शास्त्र को मांडलिक मानना

पड़ेगा। मांडलिक राजा स्वतंत्र हो सकता है, और अपने राज्य की सीमा के भीतर अधिक बलवान् भी हो सकता है, पर चक्रवर्ती राजा की बराबरी नहीं कर सकता। अँगरेज़ इस देश के चक्रवर्ती राजा है, और नेपाल-नरेश इस देश के अंतर्गत एक मांडलिक राजा। नेपालवाले अँगरेज़ी क़ायदे-क़ानून की पाबंदी करने के लिए मजबूर नहीं। वे अपने राज्य की सीमा के भीतर स्वतंत्र है; जो चाहे कर सकते है। परंतु बल, प्रभुता और शक्ति में अँगरेज़ों की समता नहीं कर सकते।

(२) उद्वेगजनक उक्ति

श्रीयुत विष्णु कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर ने बड़े गर्व के साथ लिखा है कि कालिदास की कविता में ज़रा भी ग्राम्यता या अश्लीलता नहीं। इस दोष से उनकी कविता सर्वथा बची हुई है। इसे हम भी मानते हैं। यद्यपि आलंकारियों ने अमंगल, व्रीड़ा और जुगुप्सा-व्यंजक उक्तियाँ इनकी भी कविता मे ढूँढ़ निकाली हैं, तथापि वे ग्राम्यता-दोष की ठीक सीमा के भीतर नहीं आतीं। हाँ, उद्वेग पैदा करनेवाले स्थल इनके भी काव्यों में कहीं-कहीं पाए जाते है। ऐसे स्थल बहुत खटकते है। कवियो के गुरुवर के काव्य में ये न होते, तभी अच्छा था। रघुवंश के बारहवे सर्ग का बाईसवाँ श्लोक पढ़िए। एक पेड़ के नीचे सीता की गोद में (सिर रखकर) थके हुए रामचंद्र सो रहे हैं। इसी समय—

ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः ;
प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन्।

अर्थ—इंद्र के बेटे कौए ने उनके स्तनद्वय को नाख़ूनों से विदीर्ण कर दिया। वहाँ पर रामचद्र के उपभोग के जो चिह्न थे, उनमें मानो उसने दोष दिखलाए। मतलब यह कि तुम्हे नख-क्षत करना नहीं

आता; देखिए, इस तरह करना चाहिए। पाठक, कृपा करके बतलावें, यह उक्ति उन्हें कहाँ तक पसंद है। चित्त में कुछ उद्वेग पैदा करती है या नहीं? रामचंद्र को कालिदास विष्णु का अवतार मानते थे। उन्होंने रघुवंश के तेरहवें सर्ग के आरंभ ही में लिखा है—

रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां
रामाभिधानो हरिरित्युवाच।

इन्हीं राम-नामधारी हरि की जाया के विषय में आपने ऊपर की उक्ति कही है। भगवान् विष्णु के किए हुए नख-क्षतों के वर्णन और भगवती सीता के स्तनद्वय का कौए के नाख़ूनों से विदीर्ण होने के उल्लेख से काव्यानंद की वृद्धि तो होती नहीं, मन में एक प्रकार की ग्लानि-सी अवश्य उत्पन्न होती है। अच्छा, इस बात को जाने दीजिए। मान लीजिए कि कालिदास ने रामचंद्र को हरि नहीं समझा। अतएव उनके विषय में कही गई पूर्वोक्त उक्ति अनुचित नहीं मानी जा सकती। ख़ैर, न मानिए। आप इतना तो मानिएगा या नहीं कि रामचंद्र उत्तम नायक थे। फिर क्या वे इतने मूर्ख थे कि नखक्षत करने की भी अक़्ल उनमें न थी, इस काम को क्या कौवा उनसे अच्छा कर सकता था, एक बात का और भी तो विचार करना था। रामचंद्र को अयोध्या छोड़े बहुत दिन हो गए थे। भरत के लौट जाने पर जिस समय वे चित्रकूट में थे, उस समय की यह घटना है। वन में रामचंद्र तापस के वेश में थे। लक्ष्मण बराबर उनके साथ रहते थे। इस बात का क्या प्रमाण कि वे ब्रह्मचर्य-धारण-पूर्वक अपना काल-यापन न करते थे? फिर ये 'उपभोग-चिह्न' कहाँ से आए? क्या ऐसे चिह्न महीनों बने रहते हैं? अच्छा, इस कोटि-क्रम को भी जाने दीजिए। क्या सीताजी नंगी रहती थीं? क्या दुपट्टा, कंचुकी, मृगचर्म आदि वे कोई चीज़ न पहनती थीं? सुहेली, लुलू, बुश्मन, रेड इंडियन

आदि असभ्य जंगली लोगों की स्त्रियों की तरह केवल कटि-प्रदेश को पत्तों या छाल से तो वे ढके रहती न थीं ? फिर कौए ने उस अंग-विशेष को विदीर्ण कैसे किया ? याद रखिए, कालिदास ने 'स्तनौ' लिखकर द्विवचन का प्रयोग किया है। आपको एकवचन से संतोष नहीं। द्विवचन लिखकर दोनो स्तनों को एक ही साथ विदीर्ण कराया ? हमारी मंद-बुद्धि के अनुसार, यह उक्ति महाकवि कालिदास के काव्य की शोभा बढ़ानेवाली नहीं, किंतु घटाने-वाली है।

रघुवंश में इस घटना के उल्लेख की कोई वैसी आवश्यकता न थी। यदि मान लिया जाय कि थी ही, तो किसी और अवयव का नाम देने से क्या काम न चलता ? शायद न चलता। क्योंकि वैसा करने से उस अपूर्व उत्प्रेक्षा के लिए जगह न रहती। इस विषय में कालिदास की अपेक्षा तुलसीदास ने विशेष विवेक-बुद्धि से काम लिया है। उन्होंने लिखा है—

सीता-चरण चोंच हति भागा ; महामंद-मति कारन-कागा।

कौन न स्वीकार करेगा कि पैरों पर कौए की चोंच या नखों का लगना अधिक संभवनीय है ?

वाल्मीकि-रामायण के अयोध्याकांड में यह घटना और ही तरह से वर्णन की गई है। वहाँ पर लिखा है कि खाने से जो मांस बच गया था, वह धूप मे सूख रहा था। सीताजी कौओं से उसकी रक्षा कर रही थीं, परंतु, बार-बार रोकने पर भी, वे न मानते थे। यहाँ तक कि तंग किए जाने पर उन्होंने अपने पखों, नखों और चोंचों से सीता को चोट पहुँचाई। वाल्मीकि ने किसी अंग-विशेष का नाम नहीं लिखा। उनका वर्णन सर्वथा स्वाभाविक है। मांसाशी कौओं के द्वारा सीता को कष्ट पहुँचना और रामचंद्र का उन कौओं पर बाण चलाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं। वाल्मीकि ने लिखा है—

शिष्टं मांसं निकृष्टं यच्छोषणायावकल्पितम् ;
तद्रामवचनात्सीता काकेभ्यः पर्यरक्षत ।

❀ ❀ ❀

इतश्चेतश्च तां काको वारयन्तीं पुनः पुनः ,
पक्षतुण्डनखाग्रैश्च कोपयामास कोपनाम् ।

अतएव कालिदास का पूर्वोक्त पद्य वाल्मीकि-रामायण का आधार नहीं रखता। उन्होंने किसी और पुराण के आधार पर वह उक्ति कही होगी। परंतु यदि किसी पुराण में वैसा हो भी, तो भी उसका उल्लेख समुचित नहीं माना जा सकता। पुराणों की उद्वेगजनक घटनाओं की नक़ल काव्यों और नाटकों में क्यों की जाय? कालिदास ने पौराणिक घटनाओं में मनमाना फेर-फार करके उन्हें अपने ग्रंथों में स्थान दिया है। यहाँ भी उन्हें ऐसा ही करना था।

(३) अनौचित्य-दर्शक उक्ति

[क]

कुमारसंभव के आठवें सर्ग में कालिदास का एक श्लोक है। उसमें आपने लिखा है कि शंकर को पार्वती जितना चाहती हैं, शंकर भी पार्वती को उतना ही चाहते हैं। दोनो के प्रेम को परस्पर का आश्रय है। कोई किसी का कम प्यार नहीं करता। वह श्लोक यह है—

तं यथात्मसदृशं वरं वधूरन्वरज्यत वरस्तथैव ताम् ।
सागरादनपगा हि जाह्नवी सोऽपि तन्मुखरसैकवृत्तिभाक् ॥

अर्थ—अपने सदृश वर, अर्थात् शिव, पर वधू पार्वती जिस तरह अनुरागवती थी, वर, अर्थात शिव, भी उसी तरह वधू पार्वती पर अनुरागवान् थे। समुद्र में पहुँचकर गंगा फिर पीछे को नहीं लौटतीं, और समुद्र भी गंगा के मुख-रस (पान करने) में अपनी

एकमात्र वृत्ति को प्रवर्तित कर देता है। अर्थात् और किसी नदी के मुख-रस-पान में वह प्रवृत्त नहीं होता, अकेली गंगा के मुख-रस-पान में वह एकवृत्ति हो जाता है। कालिदास की इस अनोखी उपमा से अनौचित्य की झलक आती है। जाह्नवी का समुद्र से पीछे न हटना—उसी में लीन हो जाना—बहुत ठीक है। परंतु समुद्र का उसमे एकवृत्ति होना कैसा? जिस समुद्र में सैकडों-हज़ारों नदियाँ गिरती हैं, और जो उन सबके मुख-रस के पान मे अपनी वृत्ति को प्रवृत्त रखता है, किसी को निराश नही लौटाता, उसकी उपमा शंकर से देना—उसे शंकर का उपमान मानना—मानो छिपे-छिपे शकर पर बहुपत्नी-प्रेम का आरोप करना है, और साथ-ही-साथ समुद्र की दिल्लगी भी करना है। दिल्लगी क्या, उसे शरमिंदा करना है। यह उपमा शंकर और पार्वती, दोनो के चरित्र में न्यूनता लानेवाली है। कविता के मर्मज्ञ रसिकजन इसके प्रमाण हैं। यदि वे ऐसा न समझे, तो न सही, हम अपनी इस टिप्पणी को वापस ले लेंगे।

कुछ विद्वानों की राय है कि कुमारसंभव के पहले सात सर्ग ही कालिदास के रचे हुए हैं, बाद के सब सर्ग किसी और के है। यह हो सकता है। ऐसा होने से पूर्वोक्त दोष कालिदास पर नहीं लगाया जा सकता। अच्छा, इसे जाने दीजिए। कालिदास की एक और उक्ति सुनिए।

[ख]

विदर्भराज ने अपनी बहन इंदुमती का स्वयंवर किया। देश-देशांतर के राजा उसे पाने की इच्छा से कुंडिनपुर आए। पर उस कन्या-रत्न ने सबका अनादर करके अजकुमार के गले में जयमाल पहनाया। यथाविधि अज का विवाह इंदुमती से हुआ। विवाह-विधि समाप्त होने पर अज अपनी नवपरिणीता वधू को लेकर अयोध्या

को लौटा। उसे पहुँचाने के लिये कुंडिनेश ने भी प्रस्थान किया। तीन रात उसके साथ मार्ग में रहकर कुंडिन-नरेश अपनी राजधानी को वापस आए। स्वयंवर में निराश हुए राजों को अज की इंदुमती-प्राप्ति असह्य हुई। ज्यों ही विदर्भराज ने अज का साथ छोड़ा—ज्यों ही अजकुमार अकेला रह गया—सब राजों ने मिलकर उस पर आक्रमण किया, और उससे इंदुमती छीन लेना चाहा। घोर युद्ध हुआ। युद्ध के मैदान में अज ने अपने वैरी राजवर्ग को सम्मोहनास्त्र से सुला दिया। उनके इस तरह मोहित हो जाने पर—

ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे
निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः।
(रघु०, सर्ग ७, श्लोक ६३)

"प्रिया ने आस्वादन किया है रस जिस अधरोष्ठ का, उस पर रखकर अजकुमार ने (विजय-सूचक) शंख बजाया।" अब विचार इस बात का है कि इस अधरोष्ठ-पान का प्रसंग कहाँ तक युक्ति-संगत और संभव माना जा सकता है। विवाहोत्तर अज अपनी ससुराल में दो-चार दिन भी नहीं रहा। या, यों कहिए कि कालिदास ने उसके वहाँ रहने का उल्लेख नहीं किया। युद्ध होने के पहले, मार्ग में भी उसने तीन ही रातें बिताई थीं, और शास्त्र की आज्ञा है—

ऊर्ध्वं त्रिरात्रमथवा द्वादशाहं भवेद्व्रती।

बारह दिन न सही, तो तीन रात-पर्यंत तो अज को ज़रूर ही ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिए। अतएव उसके अधरोष्ठ के लिए "प्रियोपात्तरस" विशेषण कैसे सार्थक हो सकता है? अब, यदि, यह मान लेते हैं कि कुंडिनपुर में कुछ दिन रहने के बाद अज ने अयोध्या के लिये प्रस्थान किया, तो भी कठिनता हल नहीं होती। क्योंकि अज के द्वारा प्रिया के अधरोष्ठ-रस का पान समझ में आ

सकता है, पर प्रिया के द्वारा अज के अधरोष्ठ-रस का पान अस्वाभाविक-सा है। नव-विवाहिता इंदुमती में इतना शीघ्र इतनी प्रौढ़ता और प्रगल्भता नहीं आ सकती। यदि कोई यह एतराज़ पेश करे कि यह बात असंभव नहीं, और स्त्रियों की अपेक्षा इंदुमती शायद अधिक प्रगल्भ रही हो, तो इसका उत्तर यह है कि ख़ुद कालिदास उसे लज्जावती, अतएव अप्रगल्भा, बतलाते हैं। इसी सातवें सर्ग के पच्चीसवें श्लोक में वह कह आए हैं—

> चकार सा मत्तचकोरनेत्रा
> लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ।

पाठक कह सकते हैं कि यह विवाह के समय की उक्ति है। विवाहोत्तर उसकी सलज्जता कम हो गई होगी, यह एतराज़ भी ठीक नहीं। युद्ध समाप्त होने पर, ऊपर, जो तिरसठवें श्लोक का पूर्वार्द्ध दिया गया है, उसके छः ही श्लोक आगे, अर्थात् उनहत्तरवें श्लोक के पूर्वार्द्ध में, महाकवि ने फिर भी इंदुमती को लज्जावती बताया है। देखिए—

> दृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत्।

इसका मतलब है—अपने प्रिय पति अज की जीत से प्रसन्न होने पर भी, लज्जा से जीती गई इंदुमती अज का अभिनंदन साक्षात् न कर सकी। अतएव इस काम को उसने अपनी सखियों की वाणी से कराया—उसकी सखियों ने अज को उसकी जीत पर बधाई दी। अतएव इंदुमती की प्रगल्भता किसी तरह साबित नहीं हो सकती।

हाँ, एक बात लिखने को रह गई। पाठक यह कह सकते हैं कि—"प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे" का अर्थ राजा लक्ष्मणसिंह ने जैसा किया है, वैसा क्यों नहीं करते? उन्होंने तो लिखा है—"प्यारी का रस लिए हुए होठों पर रखकर कुमार ने शंख फूँका।" इस पर यह

निवेदन है कि ऐसा अर्थ हो नहीं सकता। ऐसा अर्थ तब निकलता, जब "उपात्तप्रियारसेऽधरोष्ठे" की तरह की पद-रचना होती। हेमाद्रि, चरित्रवर्धन और मल्लिनाथ आदि सभी टीकाकारों ने पूर्वोक्त पदों का वही अर्थ लिखा है, जो हमने ऊपर लिखा है। और टीकाकारों की अपेक्षा मल्लिनाथ की टीका अधिक सुलभ है। उसे पाठक स्वयं देख सकते हैं। उसमें लिखा है—

कुमार. प्रियेन्दुमत्योपात्तरसे आस्वादितमाधुर्य्ये (अतिश्लाघ्य इति भावः) अधरोष्ठे जलजं शङ्खं निवेश्य दध्मौ।

इन बेचारों से विवादास्पद पदों का जब और किसी तरह समर्थन न हो सका, तब लिख दिया—"अतिश्लाघ्ये इति भावः। "उपात्त-रसेऽधरोष्ठे" का भाव अति श्लाघ्य लिखकर इन्होंने छुट्टी पाई। परंतु इनकी सचाई की तारीफ़ करना चाहिए। पूर्वोक्त पदों का ठीक-ठीक जो अर्थ होता है, वही इन्होंने लिखा। हाँ, वह अर्थ इनके मन में जँचा ज़रूर नहीं। इससे इनको उनका मतलब, उनका आशय, उनका भाव "अतिश्लाघ्य" बतलाना पड़ा। यदि कोई किसी के होंठ पर ज़बरदस्ती अंगूर रखकर हटा ले, और फिर यह कहने लगे कि देखो, इसने अंगूर के रस का—उसके माधुर्य का—आस्वादन कर लिया, तो विचार करने का स्थल है, उसकी बात कहाँ तक सार्थक मानी जा सकेगी। यदि ऐसा कथन ठीक माना जा सके, तो राजा लक्ष्मणसिंह का किया हुआ अर्थ भी ठीक माना जा सकेगा। कालिदास का भी आशय यदि ऐसा ही हो, तो वे जानें और उनकी रसिकता। हमारी क्षुद्र बुद्धि तो काम नहीं करती।

इस संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि इंदुमती से पहले अज ने और किसी कन्या से विवाह नहीं किया था। अर्थात् उसके और कोई 'प्रिया' न थी। और, इंदुमती के अतिरिक्त किसी अविवाहिता प्रिया का मानना रघुवंशियों के चरित पर धब्बा लगाना है।

[१]

रस-संबंधी अनौचित्य

शंकर ने अखंड समाधि लगाई है। संसार से सारा लगाव उन्होंने छोड़ दिया है। ऐसे समय में देवता चाहते हैं कि वे पार्वती से विवाह कर लें। वे समाधिस्थ शंकर को जगाकर पार्वती के संबंध में उनके हृदय में अभिलाष उत्पन्न करना चाहते हैं। यह काम वे काम के सिपुर्द करते हैं। काम शंकर के आश्रम में आता है, और स्थावर-जंगम सभी के हृदय में काम-वासना उत्पन्न करने के लिए अकाल ही मे वसंत-ऋतु का आविर्भाव करता है। उसके प्रभाव से प्राणिमात्र पागल हो उठते हैं, और काम-चेष्टाएँ करने लगते हैं। यह सारा झंझट पार्वती मे परमेश्वर के अभिलाष-शृंगार को उद्दीप्त करने के लिए है। इसी उद्दीपन-विभावोचित वर्णन मे कालिदास एक जगह पर कहते हैं—

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं,
दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः;
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां,
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः।

(कुमारसंभव, सर्ग ३, श्लोक २८)

अर्थात्—कनेर का रंग तो ज़रूर अच्छा है; परंतु उसमें सुगंधि नहीं, इससे मन को दुःख होता है—चित्त प्रसन्न नहीं होता। प्राय. यह देखा गया है कि ब्रह्मा सारे गुण किसी एक पदार्थ में इकट्ठे नहीं उत्पन्न करता। इस वर्णन से कोई भी उद्दीपक बात नहीं निकलती। यह उक्ति ऐसी नहीं कि शंकर के अभिलाष-शृंगार का उद्दीपन करनेवाली हो। कनेर का रंग अच्छा होता है। होता होगा। उसमें सुवास का न होना हृदय में दुःख पैदा करता है।

करे। ब्रह्मा की आदत है कि जहाँ गुण होते हैं, वहाँ एक-न-एक दोष भी उत्पन्न किए बिना वह नहीं रहता। न रहे। इससे क्या? आप फूलों के गुण-दोष दिखाने तो चले नहीं, और न ब्रह्मा की आदत ही का वर्णन करने चले। आप तो ऐसी बातें कहने चले हैं, जिनसे शंकर का पार्वती-विषयक कामना उद्दीप्त हो उठे। सो वैसी कोई बात पूर्वोक्त पद्य में देख पड़ती नहीं। इसी श्लोक के आगे-पीछे आपने जो पुंस्कोकिलों का कूजन, भ्रमरों और भ्रमरियों का एक ही पुष्प-पात्र में मधु-पान, पलास-कलिकाओं के मिस से वनस्थली के नख-क्षत आदि का वर्णन किया है, वह सब आपके अभीष्ट रस का उद्दीपन करता है। परंतु इस श्लोक की उक्ति वैसी नहीं। इसी से कहना पड़ता है कि इसमें शृंगार-रस-परिपोषक औचित्य नहीं।

[२]

व्याकरण-संबंधी अनौचित्य

[क]

कहते संकोच होता है—संकोच क्यों, हम-जैसे निर्बल, अल्पज्ञ और असहाय मनुष्य को डर लगता है कि कालिदास ने अपने काव्यों में पाणिनीय व्याकरण के नियमों का अनेक बार उल्लंघन किया है। एक, दो, तीन बार नहीं, दस-बीस बार उन्होंने इस विषय में निरंकुशता दिखाई है। संभव है, जिन प्रयोगों को गिनती निरंकुशता में की जाती है, वे ऐंद्र और चांद्रमस आदि व्याकरणों के अनुसार साधु प्रयोगों में गिने जा सकें। परंतु जब तक इन अन्य व्याकरणों के विद्वान् उन प्रयोगों को साधु न सिद्ध करें, तब तक उनको कवि के स्वातंत्र्य का विजृंभण मानने के सिवा और कोई गति नहीं। ऐसे प्रयोगों के हम अधिक नहीं, केवल पाँच-छः उदाहरण देंगे। अधिक उदाहरण देने की चेष्टा न करेंगे। रघुवंश के पहले सर्ग का अंतिम श्लोक है—

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशाला-
मध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः;
तच्छिष्याध्ययन निवेदितावसानां
संविष्टः कुशशयने निशां निनाय।

इसमें 'प्रयतपरिग्रहद्वितीयः'—इस पद को देखिए। यह 'सः' अर्थात् राजा दिलीप का विशेषण है। वशिष्ठ के आश्रम में राजा ने रात काटी। वह अकेला न था। उसके साथ उसकी रानी थी। इस बात को कवि ने 'प्रयतपरिग्रहद्वितीयः' कहकर सूचित किया है। इसका मतलब है—अपनी ही इच्छा से नियम की रक्षा करने में तत्पर रानी है द्वितीय (अर्थात् सखी) जिसकी। अर्थात् एक वह था, दूसरी रानी थी। रानी से वह द्वितीय था। कहने का यह बड़ा ही अच्छा तर्ज़ है। इस पूर्वोक्त पद में बहुव्रीहि-समास है। यहाँ समास कवि को इष्ट भी है, क्योंकि यही समास मानने से कवि का अभीष्ट अर्थ निकलता है। तत्पुरुष-समास मानने से अर्थ में लाघव आ जाता है। इसी तरह का एक समास कवि ने रघुवंश के दूसरे सर्ग के चौबीसवें श्लोक में भी रक्खा है—

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपा-
मन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः;
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश
सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत्।

यहाँ भी देखिए—'गृहिणीसहायः' बहुव्रीहि ही समास है। तदनुसार इसका अर्थ होता है—गृहिणी है सहाय [सहायक], अर्थात् सखी, जिस राजा की। इस तरह के प्रयोग महाकवियों को बहुत प्रिय मालूम होते है। श्रीहर्ष ने नैषध-चरित में लिखा है—

रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां
छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार;

तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गी
स कीरवन्मानुषवागवादीत् ।

इस श्लोक में 'छायाद्वितीयां' बिलकुल वैसा ही प्रयोग है, जैसा कालिदास का 'प्रयतपरिग्रहद्वितीयः' और 'गृहिणीसहायः' है। अब देखिए, इन्हीं प्रयोगो के कर्ता महाकवि ने किस तरह उलटी गगा बहाई है। रघुवश के पहले सर्ग का अड़तालीसवाँ श्लोक है—

स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः ;
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ।

भावार्थ—जिसके सदृश यश प्राप्त करना और लोगों के लिए कठिन काम है, जिसके रथ के घोड़े थक गए हैं, और जो अपनी महिषी—प्रधान रानी—का सखा, अर्थात् मित्र या साथी है, वह राजा दिलीप, सायकाल, उस संयमशील महर्षि के आश्रम में पहुँचा। इस पद्य मे 'महिषीसखः' पद ठीक उसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है, जिस अर्थ में 'प्रयतपरिग्रहद्वितीयः' और 'गृहिणीसहायः' हुआ है।

कवि के कहने का मतलब केवल इतना ही है कि राजा अकेला न था, उसके साथ उसकी रानी भी थी। परंतु पाणिनि की आज्ञा है कि ऐसा अर्थ इस पद से न निकाला जाय। क्यो? व्याकरणाचार्य ने नियम कर दिया है—"राजहः सखिभ्यष्टच्" बहुव्रीहि करने से 'टच्' प्रत्यय यहाँ नहीं हो सकता। और, 'टच्' है यहाँ ज़रूर। उसके बिना 'महिषी-सखः' इस पद की सिद्धि कैसे होगी? 'सखि' शब्द का 'सखः' कैसे होगा। अतएव अनन्यगतिक होकर यहाँ षष्ठी-तत्पुरुष समास मानना पड़ता है, जिसका अर्थ होता है महिषी का सखा, महिषी का साथी, महिषी का मित्र। इस समास के कारण अर्थ में बड़ी हीनता आ जाती है। राजा दिलीप अपनी रानी का सखा या मित्र था, इसके

कहने का यहाँ कोई ज़रूरत नहीं । ज़रूरत इतना ही कहने की है कि राजा के साथ उसकी रानी थी; रानी को साथ लिए हुए वह वशिष्ठ के आश्रम में गया । इस काम में उसका और कोई सहायक न था, थी केवल उसकी रानी । इसी अर्थ को प्रधान मानकर मल्लिनाथ को "महिष्याः सखा महिषी सखः" इस तरह समास-विग्रह करके "सहायांतर निरपेक्ष इति भावः"—यह लिखना पड़ा । मतलब यह कि कालिदास ने कहना चाहा कुछ, पर पाणिनि के नियम का ख़याल न रखने से उनकी उक्ति से निकला कुछ और ही अर्थ ।

ठीक इसी तरह का अनौचित्य कालिदास की एक और उक्ति में भी पाया जाता है । रघुवंश के पाँचवें सर्ग का सत्ताईसवाँ श्लोक है—

वशिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु ;
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य ।

भावार्थ—वशिष्ठ के मंत्र-पूत जलाभिषेक के प्रभाव से, वायु के साथी बलाहक की गति की तरह, उस राजा रघु के रथ की गति समुद्र में, आकाश में और पर्वतों के ऊपर, कहीं भी, रोकी नहीं जा सकी । यहाँ भी 'मरुत्सखस्य' में षष्ठी-तत्पुरुष समास करना पड़ता है । अतएव उसका अर्थ होता है वायु का सखा । यह पद बलाहक का विशेषण है ; और बलाहक का सखा या सहायक पवन है, न कि पवन का सखा या सहायक बलाहक । पवन की सहायता से बलाहकों की गति अधिक व्यापक हो जाती है, यह सिद्ध बात है । पर मेघ किस तरह पवन का सखा या सहायक हो सकता है, यह बात समझ में नहीं आती । यहाँ भी कालिदास का मतलब बहुव्रीहि ही समास से है, तत्पुरुष से नहीं । बहुव्रीहि करने से अर्थ निकलता है मरुत् सखा यस्य, तस्य बलाहकस्य गतिरिव । अर्थात् जिस बलाहक का सखा या सहायक पवन है, उसकी गति की

तरह। यही अर्थ अपेक्षित भी है। पर पाणिनि ऐसा अर्थ होने नहीं देते। उनकी आज्ञा तत्पुरुष समास करने की है। वह कहते हैं कि 'सखि' शब्द को 'सखा' न बनाओ, और जो बनाओ, तो बहुव्रीहि समास न करो। 'सखि' का 'सखा' कालिदास ने कर दिया। अतएव षष्ठी-तत्पुरुष समास करना पड़ा। उसका अर्थ हुआ पवन के सखा या साथी बलाहक की गति की तरह। यह बड़ा ही गौण अर्थ है। इसी से मल्लिनाथ को कहना पड़ा—"मरुतः सखेति तत्पुरुषो बहुव्रीहौ समासांताभावात् ततो वायुसहायस्येति लभ्यते।" हेमाद्रि ने तो साफ़-साफ़ कह दिया कि यह प्रयोग चिंत्य है। आप अपनी टीका में लिखते हैं—

"मेघेन गमनार्थं मरुदपेक्षितत्वान्मरुत्सखा यस्येति समासोऽभिमतो न स्यात्। 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इति टच् न स्यात्। तस्य तत्पुरुषाभिधानात्। ततश्चिन्त्यमिदम्।"

टीकाकार चारित्रवर्द्धन ने भी अपनी व्याख्या में इसी प्रकार का एक नोट दिया है। इस कथन से यह निष्कर्ष निकला कि या तो कालिदास ने किसी और व्याकरण के अनुसार ये प्रयोग किए, या उन्होंने जान-बूझकर निरंकुशता से काम लिया। भूल से भी ऐसा हो सकता है।

[ख]

रघुवंश के नवें सर्ग का छब्बीसवाँ श्लोक है—

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनुषट्पदकोकिलकूजितम्;
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्।

इस श्लोक के दूसरे चरण में 'तदनु' सामासिक शब्द है। पर, इस तरह का समास पाणिनीय व्याकरण के मत से निषिद्ध है। अतएव रघुवंश के टीकाकार हेमाद्रि कहते हैं—

'पूरणगुण'—इति समासनिषेधात्तदनुशब्दे समासो महाकविप्रयोगादेवसाधुः।

कालिदास-जैसे महाकवि ने ऐसा प्रयोग कर दिया; इससे यह असाधु प्रयोग भी साधु हो गया। क्यों न हो। एक ही दफ़े कुछ थोड़े ही ऐसा प्रयोग इस महाकवि ने किया है। इसी रघुवश में एक और जगह भी आपने लिखा है—

विश्वं तदनु बिभ्रते...........

और, मेघदूत में भी आपने इस प्रयोग को याद किया है—

सन्देशं मे तदनु जलद.........

इत्यादि। अच्छा, अब एक और प्रयोग की साधुता देखिए।

[ग]

रघुवंश के आठवें सर्ग का छियालीसवाँ पद्य यह है—

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहता न हन्ति माम् ;
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।

इसमें 'जीवितापहा' पद की साधुता अथवा असाधुता के विषय में मल्लिनाथ तो चुप है, पर हेमाद्रि और चारित्रवर्द्धन ने आक्षेप किया है। प्रथम का कहना है—

इत्ययं शब्दः चिन्त्यः। 'अपेक्लेशतमसोः' इति डस्य विधानात्। 'क्लेशरागतमो दर्पदुःखरोगज्वरादिषु ; डः कर्मस्वपहन्तेः स्याद् ख्यातः पापापहः शिवः' इति गणदर्पणोक्तेर्घटते।

'जीवितापहा' में अप उपसर्ग-पूर्वक हन् धातु से ड-प्रत्यय किया गया है। पर यह प्रत्यय पाणिनि की आज्ञा के अनुसार क्लेश, राग, तम आदि शब्दों के योग में होता है; 'जीवित' शब्द के योग में नहीं। इसी से हेमाद्रि इस प्रयोग को चिंत्य समझते है। चारित्रवर्द्धन भी इनकी हाँ में हाँ मिलाते है; पर यह भी कहते है कि किसी-किसी की राय में और शब्दो के योग में भी यह प्रत्यय होता है। यह आप कहते तो हैं, परंतु और किसी कवि या महाकवि के ऐसे

प्रयोग का एक भी उदाहरण आप नहीं देते । कालिदास ने और स्थलों पर इस प्रत्यय का ठीक प्रयोग किया है । रघुवंश के सत्रहवे सर्ग के इकसठवें श्लोक में है—

परकर्म्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्म्मसु ।

और उन्नीसवें सर्ग के उनतालीसवे श्लोक में है—

अन्वभुङ्क्तसुरतक्लमापहाम्

पर ऊपर के श्लोक में आपने अपने टीकाकारों को पूर्वोक्त प्रयोग को 'चिंत्य' समझने का मौक़ा दिया है । अब इसे चाहे कोई निरंकुशता समझे, चाहे और कुछ ।

[ब]

युष्मद् शब्द की प्रथमा के द्विवचन का रूप होता है युवाम् । उसका अर्थ है तुम दोनो । परंतु कालिदास ने रघुवंश के पंद्रहवे सर्ग के ६९वें श्लोक में युवां का 'वां' कर दिया है । वां भी होता है; पर द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी के द्विवचन में । प्रथमा-विभक्ति में 'वां' नहीं होता । वह श्लोक यह है—

गेये केन विनीतौ वां कस्य चेयं कृतिः कवेः ;

इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम् ।

अर्थ—किसने तुम दोनो को गाना सिखलाया है, और यह किस कवि की कृति है ? इस प्रकार राजा रामचंद्र से पूछे जाने पर उन दोनो ने वाल्मीकि का नाम बतलाया । लव-कुश ने रामचंद्र को गाकर रामायण सुनाई । सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुए, और पूर्वोक्त बहुत ही स्वाभाविक प्रश्न उन्होने किए । टीकाकार लोग जब इस श्लोक का अर्थ समझाने लगे, तब बड़ी मुश्किल में पड़े । वे 'वां' की संगति कैसे लगावें ? किसी ने कहा, यह पाठ ठीक नहीं । ठीक पाठ है—गेये को नु विनेता वां । किसी ने कहा, नहीं, ठीक पाठ है—गेये कोऽत्र विनेता वां । तीसरे बोले—नहीं जी, शुद्ध पाठ

यह है—गेये को नु विनीतिर्वां । चौथे महाशय बोले—युवां का अर्थ देनेवाला 'वां' यह अव्यय है ! इसके कहने की आवश्यकता नहीं कि इन पाठांतरों से 'वां' की मुश्किल हल हो जाती है। इसीलिये इन पाठांतरों की रचना की गई है। किसी-किसी ने तो 'वां' को षष्ठी समझकर विलक्षण-विलक्षण प्रकार से इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का अर्थ किया है। उन सबके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं। क्योंकि संस्कृत न जाननेवाले पाठक इन लोगों के कोटिक्रम का ठीक-ठीक मर्म न समझ सकेंगे। परंतु पूना के पंडित गोपाल-रघुनाथ नंदर्गीकर ने रघुवंश के अनेक संस्करणों का मिलान करके जो देखा, तो अधिकांश पुस्तकों में उन्हें वही पाठ मिला, जो ऊपर हमने दिया है। वह उसी को कालिदास का मूल पाठ समझते हैं। इस बात को उन्होंने अपने संपादन किए हुए रघुवंश में स्पष्टता-पूर्वक लिखा है, और इसे सप्रमाण सिद्ध करने की चेष्टा भी की है। प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजी भट्ट की आज्ञा है—"नृसिंहाश्रम से ख्यातिरित्यादौ, गेये केन विनीतौ वामित्यादाविव विभक्त्यन्तप्रतिरूपकनिपाताङ्गीकारेणादोषः ।" यह वाक्य उन्होंने अपने लघुशब्देंदुशेखर में लिखा है। ख़ैर, पाठांतरों के पक्षपाती इन टीकाकारों और वैयाकरणों से शास्त्रार्थ करने की हममें शक्ति नहीं। अतएव इस विषय में हम सिर्फ़ इतना ही कहेंगे कि कालिदास के 'वां'-पद-प्रयोग में कोई कठिनाई की बात अवश्य इन लोगों ने देखी। यदि ऐसा न होता, तो इतनी टीका-टिप्पणियों और प्रमाण-प्रमेयों की ज़रूरत न पड़ती।

[ङ]

संस्कृत में एक शब्द 'त्र्यंबक' है। वह 'त्रि' और 'अंबक' इन दो शब्दों के संधि-योग से बना है। 'अंबक' का अर्थ नेत्र भी है, और पिता भी। 'त्र्यंबक' शब्द वेद में भी आया है। ऋग्वेद का एक मंत्र है—

त्र्यंबकं यजामहे सुगंधिं पुष्टिवर्द्धनम्। ७—५६—१२

सायण ने अपने वेद-भाष्य में 'त्र्यंबक' का अर्थ किया है—त्रयाणां ब्रह्मविष्णुरुद्राणामम्बकः पिता। अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, इन तीनो के पिता का नाम त्र्यंबक है। यह तो वैदिक अर्थ हुआ। लौकिक अर्थ इस शब्द का है 'त्रीणि चंद्रसूर्याग्निरूपाणि अंबकानि नेत्राणि यस्य' अर्थात् चंद्रमा, सूर्य और अग्नि रूपी तीन आँखें जिसके हो, उसे त्र्यंबक कहते हैं। त्र्यंबक से मतलब यहाँ शिव से है। कालिदास इस पिछले अर्थ को अच्छी तरह जानते थे। और, इस शब्द का शुद्ध रूप क्या है, यह भी जानते थे।

(१) ....

जडीकृतस्त्र्यंबकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः।
(रघु०, सर्ग २, श्लोक ४२)

(२) हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यंबक एव नापरः।

.. . .
(रघु०, सर्ग ३, श्लोक ४९)

(३) ....

प्रवर्तयामास किलानुसूया त्रिस्रोतसं त्र्यंबकमौलिमालाम्।
(रघु०, सर्ग १३, श्लोक ५१)

यह तो हुई हमारे महाकवि के जानने-न जानने की बात। अब देखिए, इसी 'त्र्यंबक' शब्द को बिगाड़कर आपने किस तरह 'त्रियम्बक' कर दिया है। कुमारसंभव के तीसरे सर्ग का चवालीसवाँ पद्य पढ़िए—

स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्म्मव्यवधानवत्याम्;
आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श।

छंदोनियमानुसार इस पद्य के चौथे चरण में शंकर के एक ऐसे

नाम का होना आवश्यक था, जिसका दूसरा और चौथा अक्षर दीर्घ हो। वह बात 'त्र्यम्बक' में न थी, इसलिये उसका रूप बिगाड़कर कवि ने 'त्रियंबक' कर डाला। क्यों ऐसा किया? कालिदास-ऐसे महाकवि ने इस दोष से बचने की क्यों चेष्टा न की? त्रियंबक के सदृश तौलवाला शंकर का एक नाम 'त्रिलोचन' भी है। उसे क्यों न रक्खा? अथवा पद्य को और किसी रूप में क्यों न ढाला? क्या ऐसा करने की उसमें शक्ति न थी? जो कवि हज़ारों श्लोक बना सकता था, वह क्या इस एक पद्य को किसी और तरह न कह सकता था? इन प्रश्नों का कौन उत्तर दे सकता है? इन शंकाओं का कौन समाधान कर सकता है? संभव है, किसी व्याकरण अथवा कोश के अनुसार, कालिदास के समय में, 'त्रियंबक'-शब्द भी शुद्ध माना जाता रहा हो। संभव है, यह कवि की भूल हो। जो विद्वान्—जो महात्मा—बड़े-बड़े काम करते हैं, उनसे कभी-कभी छोटी-छोटी बातों में भी भूलें हो जाया करती हैं। ऐसी कितनी ही आख्यायिकाएँ लोक में प्रसिद्ध हैं। यह भी संभव है कि कवि ने निरंकुशता-वश ऐसा प्रयोग किया हो। उसने कहा हो, कुछ परवा नहीं, मैं व्याकरण और कोश का अनुयायी नहीं। मैं जैसा प्रयोग करूँ, वैयाकरणों और कोशकारों को, हज़ार दफ़े ग़रज़ हो, तो, उसे शुद्ध मानकर अपने ग्रंथों में स्थान दें। मैं उनका वशवर्ती नहीं। वे मेरे अनुगामी होना चाहें, तो हो सकते हैं। कुछ भी हो, महाकवि के इस पूर्वोक्त शब्द-प्रयोग को विद्वानों ने उसके स्वातंत्र्य का नमूना ज़रूर माना है। इसी से मल्लिनाथ को पूर्वोक्त श्लोक की टीका लिखते समय कहना पड़ा—

"केचित् साहसिकाः त्रिलोचनं इति पेठुः। त्र्यम्बकमित्युक्ते पादपूरणाव्यत्या सात् त्रियम्बकमिति पादपूरणार्थोऽयमियङा-देशश्छान्दसो महाकविप्रयोगादभियुक्तैरङ्गीकृतः।"

इससे यह भी सिद्ध है कि 'त्रियंबक' शब्द की अशुद्धि के ख़याल से ही किसी-किसी ने इसकी जगह 'त्रिलोचन' कर दिया था। इन लोगों को साहसिक कहकर मल्लिनाथ ने फटकार बतलाई है। टीका-कार के कहने का मतलब यह कि छंद की पादपूर्ति के लिये यहाँ 'त्र्यम्बक' का 'त्रियंबक' किया गया है। यह प्रयोग एक महाकवि ने किया है, इसलिये पंडितों ने उसे मान लिया है। क्यों न हो—"ज़बरदस्त का ठेंगा सिर पर!"

[च]

दूती संस्कृत-शब्द है, और ईकारांत है। अथवा यह कहना चाहिए कि संस्कृत-साहित्य में यह शब्द ईकारांत ही आता है। कालिदास भी इस शब्द का ईकारांत होना मानते हैं। प्रमाण—

तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ;
प्रवालशोभा इव पादपानां शृंगारचेष्टा विविधा बभूवुः।
(रघु०, सर्ग ६, श्लोक १२)

इस श्लोक में जो 'दूत्यः' शब्द है, वह 'दूती' का बहुवचन है। इससे सिद्ध है कि कविकुल-गुरु 'दूती' शब्द को साधु और शुद्ध मानते थे। पर अब आपकी निरंकुशता देखिए। आपने इस 'दूती' को अनेक स्थलों पर 'दूति' कर दिया है—

(१) प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः ;
रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम्।
(कुमारसंभव, सर्ग ४, श्लोक १६)

(२) प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः
समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः ;
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्ययूनः
प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ॥
(रघु०, सर्ग १८, श्लोक ५३)

(३) तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु ;
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वच. ।
(रघु०, सर्ग १६, श्लोक १८)

(४) क्लृप्तपुष्पशयनॉल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ;
अन्वभूत्परिजनांगनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम् ।
(रघु०, सर्ग १६, श्लोक २३)

(५) सङ्गमायनिशि गूढ़चारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः ;
वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमङ्गनाः ।
(रघु०, सर्ग १६, श्लोक ३३)

इन उदाहृत पद्यों में से कुमारसंभववाले पहले पद्य की टीका में कवि की इस दूती-सबंधिनी निरंकुशता पर मल्लिनाथ लिखते हैं—

ङीबन्तस्यापि दूतीशब्दस्य छन्दोभङ्गभयात् ह्रस्वः । "अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद्गिराम् ।"—इति केचित् । "उणादयो बहुलम्"—इति बहुलग्रहणात्ह्रस्व इति वल्लभः ।

और, रघुवंशवाले (४) पद्य की टीका में भी मल्लिनाथ ने प्रायः यही बात कही है—

अत्र ङीबन्तस्यापि दूतीशब्दस्य छन्दोभङ्गभयात् ह्रस्वत्वं कृतम् । "अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद्गिराम्"—इत्युपदेशात् ।

इस टिप्पणी में आपने वल्लभ की सम्मति देने की आवश्यकता नहीं समझी । उसे आपने छोड़ ही दिया है । शायद उस मत को आपने विशेष आदर की चीज़ नहीं समझा । रघुवंश के टीकाकार चारित्रवर्द्धन ने भी 'दूती' का 'दूति' कर दिया जाना 'चिन्त्य' माना है । पर साथ ही यह भी लिखा है—"इदंतो वा ।" अर्थात् 'दूती' इकारांत भी होता है । हेमाद्रि की भी राय है कि यह शब्द इका-

रांत भी होता है। इन्होंने प्रमाण में शब्दभेद-प्रकाश का यह वचन उद्धृत किया है—"दूत्यां दूतिरपि स्मृता।"

इन सम्मतियों से यह सूचित हुआ कि 'दूती' भी होता है और 'दूति' भी। पर किसी टीकाकार ने किसी और कवि, महाकवि या ग्रंथकार का एक भी ऐसा वचन उद्धृत करने की कृपा नहीं की, जिससें 'दूती' की जगह 'दूति' शब्द आया हो। वामन शिवराम आपटे, जिन्होंने संस्कृत का एक बहुत बड़ा और प्रामाणिक कोश (Dictionary) बनाया है, बड़े विद्वान् थे। सारे संस्कृत-साहित्य का मंथन करके उन्होंने अपने कोश में, निज-कृत अर्थ की पुष्टि के लिये, न-मालूम कहाँ-कहाँ के वचनों के प्रमाण दिए हैं। वह भी दूती और दूति दोनो को शुद्ध समझते हैं। वह लिखते हैं—"The ती of दूती is sometimes shortened अर्थात् दूती की ती कभी-कभी ह्रस्व हो जाती है। पर जब इसका प्रमाण आप देने लगे, तब कालिदास के पूर्वोक्त पाँच उदाहरणों में से पहले तीन अर्थात् (१), (२) और (३) देकर ही चुप हो गए। जान पड़ता है, इनके सिवा और कोई प्रमाण आपको नहीं मिला।

यही हाल शब्द-कल्पद्रुम का है। उसमें लिखा है "दु+बाहुल-कात् तिः दीर्घश्च। इत्युज्ज्वलदत्तः।" पर जब इस कोश के कर्ता अपने और उज्ज्वलदत्त के कथन की पुष्टि के लिये प्रमाण ढूँढ़ने लगे, तब यही कालिदास के रघुवंश के अठारहवें सर्ग का अंपनवाँ श्लोक ढूँढ़े मिला।

इससे क्या यह नहीं सूचित होता कि कालिदास ही के द्वारा प्रयुक्त 'दूति' शब्द को देखकर पूर्वोक्त पंडितों और कोशकारों ने इस शब्द को ह्रस्व इकारांत माना है? अच्छा, कालिदास ने 'दूती' की 'ती' को 'ति' क्यों कर दिया? जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, कई लोगों की राय में सिर्फ़ छंदोभंग बचाने के लिये। पर एक बार

जहाँ, कई बार उन्होंने ऐसा किया है। क्या हर बार इसी छंदोभंग-दोष से बचने के लिये उन्होंने ऐसा किया? समझ में तो नहीं आता। यदि वह चाहते, तो और तरह से छंदोरचना कर सकते थे। अस्तु। चाहे उन्होंने किसी व्याकरण के नियमानुसार ऐसा किया हो, चाहे छंदोभंग से त्राण पाने के लिये ऐसा किया हो, चाहे भूल या निरंकुशता से ऐसा किया हो, कुछ लोग उनके इस प्रयोग को चिंत्य ज़रूर समझते हैं।

[छ]

संस्कृत में कुछ धातु ऐसे हैं, जिनमें, लिट् लकार आगे होने से, आम् प्रत्यय लगता है। तदनंतर पाणिनि के "कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" इस सूत्र से, लिट लकार में, 'कृ' धातु जोड़ दिया जाता है—प्रभ्रंशयाञ्चकार आदि रूप इसी तरह के हैं। ऐसे क्रियापदों के तीन खंड हो सकते हैं। यथा—प्रभ्रंशय आम् चकार। परंतु इन क्रियाओं का जब प्रयोग होता है, तब इनका सिद्ध रूप एकत्र लिखा जाता है। दो या तीन खंड नहीं कर दिए जाते। अथवा यह कहिए कि इनके बीच में कोई और शब्द नहीं आता। कालिदास इस बात को जानते थे। प्रमाण—

(१) प्रथममुखविकारैर्हासयामास गूढम्।

(कुमारसंभव, सर्ग ७, श्लोक ९५)

(२) उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।

(कुमारसंभव, सर्ग ३, श्लोक ६७)

परंतु इस नियम को आपने रघुवंश में कई जगह भंग कर दिया है। यथा—

(१) तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री
वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः;

निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुंखस्तं
पातयां प्रथममास पपात पश्चात्।
(रघु०, सर्ग ६, श्लोक ६१)

(२) भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ;
तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम्।
(रघु०, सर्ग १३, श्लोक ३६)

(३) इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं
श्लाघ्यो भवान् स्वजन इत्यनुभाषितारम् ;
संयोजयां विधिवदाससमेतबन्धुः
कन्यामयेन कुमुदःकुलभूषणेन।
(रघु०, सर्ग १६, श्लोक ८६)

अब देखिए, 'पातयामास' जो एक पद था, उसके 'पातयां' और 'आस' ये दो टुकड़े करके उनके बीच में एक शब्द 'प्रथमं' रख दिया गया है। इसी तरह कवि ने 'संयोजयामास' के बीच में 'विधिवत्' रख दिया है। 'प्रभ्रंशयांचकार' के बीच में तो 'यः' और 'नहुष' ये दो शब्द रख दिए हैं। अश्वघोष कालिदास के बाद हुए है। उन्होंने अपने काव्य, बुद्ध-चरित, मे कालिदास के पदों, वाक्यों, उक्तियों, यहाँ तक कि श्लोकों के एक-एक दो-दो चरणों तक को उठाकर वैसे ही रख दिया है। कालिदास के पूर्वोक्त प्रयोगों की भी उन्होंने नक़ल की है। बुद्ध-चरित के छठे सर्ग का अट्ठावनवाँ श्लोक है—

पूजाभिलाषेण च बाहुमान्याद्दिवौकसस्तं जगृहुः प्रविद्धम् ;
यथावदेन दिवि देवसंघा दिव्यैर्विशेषैर्महयाञ्च चक्रुः।

इस श्लोक में 'महयांचक्रुः' इस एक क्रियापद के बीच में अश्वघोष ने एक 'च' रख दिया है। माघ कवि कालिदास के बहुत पीछे हुए हैं। उन्होंने कालिदास के इस व्यवच्छेदक प्रयोग का ठीक अनु-

करण तो नहीं किया; परंतु कुछ-कुछ इसी तरह का एक प्रयोग उन्होंने भी शिशुपाल-वध के दशवें सर्ग के उन्नीसवें श्लोक मे किया है—

छादितः कथमपि त्रपयान्तर्यः प्रियं प्रति चिराय रमण्याः ;
वारुणीमदविशङ्कमथाविश्चक्षुषोऽभवदसाविव रागः ।

'आविरभवत्' एक पद है। इसके 'आविः' और 'अभवत्' इन दो अंशों को अलग-अलग करके बीच मे माघ ने 'चक्षुषो' पद को स्थान दिया है। उनका ऐसा करना मल्लिनाथ को सहन नहीं हुआ। उन्होंने इस प्रयोग को साधु सिद्ध करने की चेष्टा छोड़कर साफ़ कह दिया है—"आविर्भुवोर्व्यवधानं कविस्वातंत्र्यात् ।" अर्थात् कवि की यह स्वतंत्रता या निरंकुशता है, जो उसने 'आविः' और 'भू' में व्यवधान पैदा कर दिया—उन्हें पृथक्-पृथक् करके बीच में एक और पद रख दिया। कालिदास के उदाहृत (१) पद्य की टीका में भी मल्लिनाथ ने निःसंकोच होकर यह नोट दिया है—

"कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" इत्यत्र अनुशब्दस्य व्यवहितविपर्यस्त प्रयोगनिवृत्यर्थत्वात्—"पातयां प्रथममास" इत्यपप्रयोग इति पाणिनीयाः । यथाह वार्तिककारः—"विपर्यासनिवृत्यर्थं व्यवहितनिवृत्यर्थञ्च ।"

मतलब यह कि पाणिनि के सूत्र में जो 'अनुप्रयुज्यते' है, उसके 'अनु' से यह तात्पर्य है कि 'कृ' धातु का रूप लिट् लकार मे 'आ' प्रत्यय के ठीक आगे आना चाहिए—उससे लगा हुआ होना चाहिए। कालिदास ने अपने प्रयोग में ऐसा नही किया। अतएव पाणिनीय मतानुसार वह अप्रयोग, अर्थात् असाधु या अशुद्ध प्रयोग, हुआ। अपने इस मत को मल्लिनाथ ने वार्तिककार की उक्ति उद्धृत करके पुष्ट किया है। चारित्रवर्द्धन ने भी अपनी टीका में मल्लिनाथ का अनुधावन किया है। उन्होंने लिखा है—"पातयां प्रथममासेतिव्यवहितोऽनुप्रयोगः

कविप्रमादः।" उसके आगे कालिदास के प्रयोग में खींच-खाँचकर सही साबित करने की चेष्टा करनेवालों की विचार-कोटियों का उल्लेख करके आपने लिखा है—"यद्यप्येव केचन समादधते" तथापि कवेरियं रीतिस्तु न भवति। .... । असौ (प्रयोग.) "असाधुरेव।" टीकाकार हेमाद्रि ने यद्यपि और लोगों की समाधान व्यवस्थाओं को विस्तार-पूर्वक लिखा है, तथापि अपनी सम्मति में उन्होंने भी यही कहा है—"तेन व्यवधाने प्रयोगं निराकरोति।" अतएव ये तीनो टीकाकार कालिदास के इन प्रयोगों को प्रामादिक समझते हैं। जिन्होंने इन प्रयोगो को साधु सिद्ध करना चाहा है, उनका कोटि-क्रम बड़ा ही विलक्षण है। उन्होंने बड़ी ही बेढब-बेढब तर्कनाएँ लड़ाई हैं। बेचारे कालिदास को कभी स्वप्न में भी न ख़याल हुआ होगा कि मेरे इन प्रयोगो को शुद्ध सिद्ध करने के लिए पंडितों को इतना वाग्जाल फैलाना पड़ेगा। कालिदास के समय में या तो ऐसे प्रयोग व्याकरण-सम्मत समझे जाते होंगे, या, इस संबंध में, कवि ने व्याकरण के नियम-पालन की आवश्यकता ही न समझी होगी। क्योंकि पूर्वोक्त पदों में व्यवधान हो जाने पर भी उनका अर्थ समझने में बाधा नहीं उपस्थित होती। तथापि अधिकतर विद्वानों की सम्मति में, पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, कालिदास निरंकुशता के आरोप से नहीं बच सकते।

६—नाम-संबंधी अनौचित्य

पार्वती में उन्हें अनुरक्त करने के लिये शंकर को समाधि से जगाने की चेष्टा जी तोड़कर मन्मथ महाराज कर रहे हैं। उन पर पंचबाण की बाण-वर्षा हो रही है। शंकर का चित्त क्षुब्ध हुआ। वह जगे। क्षोभ का कारण ढूँढने लगे। देखा, तो वसंत के सखा मनोज महोदय कान तक धनुष ताने शर-संधान कर रहे हैं।

पिनाकपाणि परमेश्वर ने कोप किया। तीसरे नेत्र को खोलकर उन्होंने जो उस धन्वी पर कोप-दृष्टि डाली, तो उसकी ज्वाला से जलकर वह ख़ाक हो गया। कुमारसंभव में कालिदास ने इस प्रसंग का वर्णन इस प्रकार किया है—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ;
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार।

भावार्थ—हे प्रभो! क्रोध न कीजिए, क्रोध न कीजिए—इस प्रकार आकाश में देवगण जब तक प्रार्थना करें-करें, तब तक भव (महादेव) के नेत्र से निकली हुई उस ज्वाला ने काम को जलाकर भस्मावशेष कर दिया। महादेव के मृड, रुद्र, ईश्वर, त्रिनेत्र, हर, स्थाणु आदि जहाँ और अनेक नाम हैं, वहाँ उनका एक नाम भव भी है। यह भव शब्द उत्पत्तिवाचक है। उसी का प्रयोग इस पद्य मे कालिदास ने किया है। पर यह प्रसंग उत्पत्ति का नहीं, नाश का है। अतएव संहार-वाचक हर शब्द के प्रयोग की ही यहाँ पर अपेक्षा थी। उसका प्रयोग नहीं किया गया। इस कारण इस श्लोक में नाम-संबंधी अनौचित्य आ गया। कुमारसंभवसार में हम इस अनौचित्य का उल्लेख कर चुके हैं। उसे पढ़कर उस समय एक सज्जन बहुत बिगड़े थे, और हमें उन्होंने बहुत कुछ भला-बुरा कहा था। परंतु महाकवि क्षेमेंद्र ने भी कालिदास को इस दोष का दोषी ठहराया है। उन्होंने अपने औचित्य-विचार-चर्चा-नामक ग्रंथ मे लिखा है—

"अत्र पश्यतो भगवतस्त्रिनेत्रस्य स्मरशरनिपातक्षोभे वर्ण्यमाने तन्निकारकोपप्रशमाय संहर संहर प्रभो कोपमिति यावद्वचः खे देवानां चरति तावद्भवनेत्रोद्भवः स वह्निर्मदनं भस्मराशिशेषमकार्षीदित्युक्ते संहारावसरे रुद्रस्य भवाभिधानमनुचितमेव।"

मतलब यह कि जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, संहार के प्रसंग

में रुद्र का भव नाम से उल्लेख करना सर्वथा अनुचित है। कल्पना कीजिए कि माता-पिता ने अपने किसी लड़के का नाम उदारराम रक्खा। बड़े होने पर उसने चोरी करना सीखा। कुछ दिनों में वह नामी चोर हो गया। तब लोग उसे आपस में चोरदास भी कहने लगे। अंत को वह पकड़ा गया, और उसने अपने चौर कर्म का सच्चा-सच्चा हाल कह सुनाया। उसे किसी जासूसी उपन्यासकार ने उपन्यास के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित किया। अब यदि यह उपन्यास-लेखक इस आदमी की विकट चोरियों के वर्णन में इसे उदारराम के नाम से याद करेंगे, तो यह नाम पढ़नेवालों के कान में ज़रूर खटकेगा। ऐसे वर्णन में चोरदास नाम ही सार्थक होगा, और उसके प्रयोग से यथार्थता के सिवा एक प्रकार की सरसता भी आ जायगी। यह कालिदास की निरंकुशता है, जो उन्होंने पूर्वोक्त श्लोक में प्रसंग की परवा न करके महादेवजी के अप्रासंगिक नाम से काम लिया।

(७) इतिहास-संबंधी अनौचित्य

राजा दिलीप ने ९९ अश्वमेध-यज्ञ किए। इतने से उसे संतोष न हुआ। उसने एक और यज्ञ करके शतक्रतु इंद्र की बराबरी करनी चाही। यह बात भला इंद्र को कब पसंद होनेवाली थी। उसने इस बार छोड़े गए घोड़े को छिपकर चुरा लिया, और ले चला। घोड़े का रक्षक था दिलीप का पुत्र रघु। वह घोड़े को न देखकर बहुत घबराया। उसी समय वशिष्ठ की नंदिनी धेनु वहाँ आ गई। उसकी कृपा से वह सर्वदर्शी हो गया। अतींद्रिय पदार्थ भी उसे देख पड़ने लगे। इस गुण के प्रभाव से उसने इंद्र को घोड़ा ले जाते देखा। अतएव उसने इंद्र को ललकारा और उसकी निर्भर्त्सना करके घोड़ा

छोड़ देने को कहा। इस पर इंद्र ने उत्तर दिया कि सौ यज्ञ करनेवाला अकेला मैं ही प्रसिद्ध हूँ। मेरे इस यश को तेरा पिता छीन लेना चाहता है। यह मैं नहीं होने दूँगा। इसका उल्लेख करके कालिदास ने रघुवंश के तीसरे सर्ग के पचासवें पद्य में इंद्र के मुख से यह कहलाया है—

अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयापहारितः ;
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य सन्ततेः ।

अर्थात्—इसी से कपिल का अनुकरण करनेवाले मैंने तेरे पिता के इस घोड़े का हरण किया है। इसे छिना लेने का प्रयत्न व्यर्थ है। देख, कहीं सगर की संतति के मार्ग में पैर न रखना। इस पर विचार—कपिल और सगर के संबंध की बात यों है कि सगर ने यज्ञ का घोड़ा छोड़ा। उसे भी, दिलीप के घोड़े की तरह, यही इंद्र महाराज चुरा ले गए। लेकर उसे आपने कपिल के आश्रम में बाँध दिया। सगर के लड़के उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वहाँ पहुँचे। घोड़े को कपिल के पास ही बँधा देख कपिल ही को उन्होंने चोर समझा। इस पर कुपित कपिल ने उन्हें जलाकर ख़ाक कर दिया। इस आख्यान को ध्यान में रखकर, अब, यह विचार कीजिए कि इंद्र का अपने को "कपिलानुकारिणा", या किसी-किसी पुस्तक के अनुसार "कपिलानुसारिणा" कहना कहाँ तक ठीक है। "कपिलानुकारिणा मयायमश्वोऽपहारितः" कहना, मानो कपिल पर सगर का घोड़ा चुराने का आरोप करना है, परंतु कपिल चोर न थे। चोर थे यही हज़रत इंद्र। सगर की संतति के मार्ग की याद दिलाकर कवि ने इंद्र की उक्ति से जो यह ध्वनि निकाली है कि जैसे सगर-संतति को कपिल ने जलाकर ख़ाक कर दिया था, वैसे ही इंद्र के द्वारा रघु का भी विनाश-साधन हो सकता है, सो बहुत ठीक है। उसके विषय में हमें कुछ नहीं कहना। कहना है सिर्फ़ अश्वापहरण के संबंध में इंद्र के कपिलानु-

करण की उक्ति पर। सगर की संतति के जलाए जाने की बात तो श्लोक के उत्तरार्द्ध से निकलती है। पूर्वार्द्ध में "कपिलानुकारिणा मयापहारितः" की क्या संगति ? "अपहारितः" के, जिसका अर्थ टीकाकारों ने "हृतः" किया है, पास ही "कपिलानुकारिणा" होने से क्या यह नहीं सूचित होता कि जैसे कपिल ने सगर के घोड़े का अपहरण किया था, वैसे ही मैंने तेरे पिता दिलीप के इस घोड़े का अपहरण किया है? और यदि होता है, तो यह पद्य ऐतिहासिक अनौचित्य के दोष से नहीं बच सकता।

(सरस्वती, फ़रवरी, सन् १६११)

(८) यतिभंग

छंदःशास्त्र के कर्ता विद्वानों ने नियम कर दिया है कि किस वृत्त में कहाँ पर विराम होना चाहिए—अर्थात् कहाँ पर ठहरकर पढ़ना चाहिए। जहाँ पर ठहरने का नियम होता है, उस स्थल को यति कहते हैं। यह यति या विराम किसी शब्द के बीच में न होना चाहिए। क्योंकि बीच में होने से शब्द के टुकड़े हो जाते हैं, जिससे सुननेवाले को ठीक-ठीक अर्थ-ज्ञान नहीं होता, और पढ़ते अच्छा भी नहीं लगता। इसका हिंदी में एक कल्पित उदाहरण लीजिए—

सदा श्रीराजारा—मपदयुग वंदौ बहु विध।

यह शिखरिणी छंद है। इसमें १७ अक्षर होते हैं। और छठे तथा ग्यारहवें अक्षर पर यति होती है। अब, देखिए, ऊपर के उदाहरण में छठा अक्षर 'राम' का 'रा' है। वहाँ पर ठहरने से 'राम' का 'रा' एक तरफ़ रह जाता है, और 'म' दूसरी तरफ़ चला जाता है। यह दोष माना गया है। अब इस उदाहरण में, कुछ फेर-फार करके इसके आगे एक और चरण की कल्पना कीजिए। यथा—

सदा श्रीराजारा–मपदयुग बंदौ विविध वि
धि सीताजी के हू पदकमलमैं बंदन करूँ ।

इसमें 'विधि' शब्द को देखिए । उसको 'वि' तो पहले चरण के अंत में है, और 'धि' दूसरे चरण के आरंभ में । यतिभंग का और भी बुरा उदाहरण है । यतिभग के उदाहरण संस्कृत-कवियों के काव्यों में बहुत पाए जाते हैं । पहले प्रकार के यतिभंग तो और भी अधिक हैं । तथापि शास्त्रकारों ने यतिभंग दोष को अवश्य माना है । मंडन मिश्र और शकराचार्य से जिस समय बातचीत होने लगी, उस समय मडन से उसके पद्यात्मक भाषण में यतिभग-दोष हो गया । इस पर शंकराचार्य तत्काल बोल उठे—

अहो प्रकटितं ज्ञानं यतिभंगेन भाषिणा ।

अर्थात् यतिभंग-पूर्वक भाषण करनेवाले तूने अपने ज्ञान की इयत्ता का खूब अच्छा प्रमाण दिया । इस यतिभंग-दोष से कालिदास भी नहीं बचे । औरों के काव्य में यह दोष उतना नहीं खटकता । पर कवियों के आचार्य महाकवि कालिदास के काव्य में ज़रूर कुछ अधिक खटकता है । रघुवंश के चौदहवें सर्ग का चालीसवाँ पद्य है—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे ;
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ।

'मलत्वेन' एक पद है । उसका 'मलत्वे'—इतना अंश तो तीसरे चरण के अंत में रहा और अविशिष्ट अंश 'न' चौथे चरण के आरंभ में चला गया । वहाँ पर न+आरोपिता मिलकर 'नारोपिता' हुआ है । इस पद्य में यद्यपि यतिभंग-दोष है, तथापि यह है बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण पद्य । इसमें कालिदास ने चद्रग्रहण का यथार्थ कारण पृथ्वी की छाया का चंद्रमा पर पड़ना बतलाया है । इससे सिद्ध है कि कालिदास और उनके पूर्ववर्ती विद्वान् यह जानते थे कि ग्रहण क्या चीज़ है ।

(६) पुनरुक्ति

[क]

रघुवंश के पहले सर्ग का बारहवाँ श्लोक है—

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः ;
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ।

अर्थ—उस विशुद्ध वंश में और भी विशेष विशुद्ध, दिलीप-नामक राजेंद्र, क्षीरसागर में इंदु की तरह, पैदा हुआ । यहाँ पर बिना किसी कारण विशेष के दो बार 'इंदु' शब्द का प्रयोग किया गया है । न तो यहाँ कोई विशेषोक्ति है, न कोई विशेष कारण ही है । अतएव वाग्भट के मत में यहाँ पुनरुक्ति दोष है । 'कथित-पद' नाम का भी एक दोष होता है । एक बार कहा गया पद (शब्द) फिर भी उसी पद्य में आने से यह दोष होता है । आप चाहें तो पूर्वोक्त पद्य में पुनरुक्ति की जगह कथित-पद-दोष मान सकते हैं ।

[ख]

अच्छा, अब एक और तरह की पुनरुक्ति देखिए । रघुवंश के आठवें सर्ग का चालीसवाँ श्लोक—

अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा ;
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ।

इंदुमती के शव को गोद में रक्खे हुए अज विलाप करता है—अथवा मेरे भाग्य के दोष से ब्रह्मा ने इस माला को वज्र बना दिया—इससे वज्र का काम लिया । इसने पेड़ को तो नहीं गिराया, पर उस पेड़ से लिपटी हुई, अर्थात् उसकी आश्रित, लता को तोड़-कर गिरा दिया । यहाँ, इस पद्य में, 'तरु' और 'विटप' ये दो शब्द आए हैं, और 'विटप' के पहले तत् शब्द भी आया है । ध्यान में नहीं आता कि एक बार तीसरे चरण में 'तरु' का प्रयोग करके चौथे

चरण में फिर भी तरुवाची 'विटप' शब्द की क्या ज़रूरत थी। 'विटप' के पहले जो 'तत्' (वह) है, उससे 'तरु' का तत्काल बोध हो जाता है। "तदाश्रिता लता" कहने से भी वही अर्थ निकलता जो "तद्विटपाश्रिता लता" से निकलता है। अतएव 'विटप' शब्द यहाँ व्यर्थ है। इसे या तो पुनरुक्ति मानिए या अधिक पद। जान पड़ता है कि महाकवि ने यहाँ पर 'विटप' शब्द की आवश्यकता अथवा अनावश्यकता का विचार नहीं किया। विचार केवल छंदोरचना का किया है। इस शब्द के रखने से छंद की पूर्ति होती थी, अतएव उसे रख दिया।

[ग]

कालिदास ने रघुवंश के कितने ही श्लोक ज्यों-के-त्यों कुमार-सम्भव में रख दिए हैं, और कुमारसंभव के रघुवंश में। इससे कोई हानि नहीं। कवि अपनी एक पुस्तक की कविता दूसरी पुस्तक में रख सकता है; क्योंकि वह उसी की चीज़ है। परंतु यदि वह एक ही पुस्तक में, एक ही जगह, पास-ही-पास, एक श्लोक का एक चरण दूसरे श्लोक में तद्वत् रख दे, तो उसका यह कार्य ज़रूर खटकेगा। कालिदास ने रघुवंश के ग्यारहवे सर्ग में ऐसा ही किया है—

दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः;
राघवाय तनयामयोनिजां पार्थिवः श्रियमिव न्यवेदयत्।

यह सैंतालीसवाँ पद्य है। इस श्लोक का तीसरा चरण, इसके आगे अड़तालीसवें ही पद्य में, जैसे-का-तैसा रख दिया गया है। देखिए—

मैथिलः सपदि सत्यसंगरो राघवाय तनयामयोनिजाम्;
सन्निधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान्।

देखा आपने! क्या कालिदास को शब्दों का दुष्काल था? क्यों न उन्होंने इस पाद-पुनरुक्ति को बचाया? इन दोनो श्लोकों का

अर्थ मिलता जुलता है । संभव है, इनमें से एक प्रक्षिप्त हो। यह भी संभव है कि इनका एक चरण लेखकों के प्रमाद से जाता रहा हो। इससे किसी ने "राघवाय तनयामयोनिजां" को श्लोक-पूर्ति के लिये दुबारा लिख दिया हो ।

(१०) अधिकपदत्व

रघुवंश के पाँचवें सर्ग का बत्तीसवाँ श्लोक यह है—

अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः ;
स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ।

भावार्थ—सैकड़ों ऊँटों और खच्चरों पर अनंत धन-राशि लदवा देनेवाले और अपने शरीर के ऊपरी भाग को झुकाकर बड़ी ही नम्रता से सामने खड़े होनेवाले प्रजा के ईश्वर राजा रघु को हाथ से स्पर्श करके, विदा के समय, प्रसन्न हुआ महर्षि कौत्स वाणी बोला । यहाँ पर 'वाचं'—अर्थात् वाणी—शब्द की अपेक्षा न थी । सिर्फ़ 'उवाच'—अर्थात् बोला—कह देने ही से अपेक्षित अर्थ-सिद्धि हो जाती है । अमुक मनुष्य अमुक से इस प्रकार बोला, या कहने लगा—यही मुहाविरा है । बात बोला या वाणी बोला—कहने का मुहाविरा नहीं । इस श्लोक की टीका लिखते समय इस दोष का उल्लेख मल्लिनाथ ने तो नहीं किया, पर हेमाद्रि और चारित्रवर्द्धन ने किया है । हेमाद्रि का कथन है—"विशेषणं विना वाक्शब्द प्रयोगश्चिन्त्यः ।" अर्थात् विना विशेषण के वाक् शब्द का प्रयोग चिंतन-योग्य है । विशेषण से मतलब है कि यदि यहाँ पर होता—"मधुरां वाचमुवाच" या "मनोरमां वाचमुवाच" तो वाक् शब्द का प्रयोग ठीक समझा जाता । मधुर वाणी बोला, मनोरम वाणी बोला या कड़वी वाणी बोला—आदि प्रयोग ठीक समझे जा सकते हैं, क्योंकि ऐसे उदाहरणों में वाणी शब्द-विशेषण-सहित है । पर

कालिदास ने कोई विशेषण नहीं दिया । इसलिये "वाचमुवाच" कहना निर्दोष नहीं। चारित्रवर्द्धन इस विषय में लिखते हैं— "शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः—इत्यादौ यथा विशेषणं तद्वदत्रापि वाचो विशेषणायोगाद्वाचमुवाचेति चिन्तनीयम् ।" शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः—यह शिशुपाल-वध का पद्यांश है । इसमें 'वाच' का विशेषण 'शुचिस्मितां' होने से वह दोष नहीं, जो कालिदास की उक्ति में है । साहित्य-दर्पण के मत में भी पूर्वोक्त पद्य में अधिक-पदत्व दोष उसके कर्ता विश्वनाथ कविराज ने लिखा है—"अत्र वाचमित्यधिकम् । उवाचेत्यनेनैव कृतार्थत्वात् ।"

(११) श्रुतिकटुत्व

जो शब्द, पद या पदैकदेश कान को कटु मालूम हो, जो कान को खटके, पढ़ने या सुनने में जो कान को अच्छा न लगे, वह श्रुति-कटुत्व-दोष से दूषित समझा जाता है । कुमारसंभव के तीसरे सर्ग का अठारहवाँ श्लोक है—

तद्गच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्य्यमर्थोऽयमर्थान्तरभाव्य एव ,
अपेक्षते प्रत्ययमंगलब्ध्यै बीजांकुरः प्रागुदयादिवाम्भः ।

उदाहरण के लिये दिए गए प्रत्येक पद्य का भावार्थ देने से यह निबंध बहुत बढ़ जायगा । अतएव इस श्लोक का अर्थ न लिखकर केवल इतना ही कह देना हम बस समझते हैं कि इसमें 'सिद्धयै' और 'लब्ध्यै' का 'द्धयै' और 'ब्ध्यै' कर्ण-कटु है । इनका उच्चारण करते समय कान को बुरा लगता है । काव्य-रसिक सहृदय सज्जन इसके प्रमाण हैं । और लोग इस बात को मानेंगे या नहीं, नहीं कह सकते । उनका मानना-न-मानना प्रामाण्य भी नहीं । क्योंकि जो जिस बात को जानता है, उसकी गवाही उस विषय में प्रमाण योग्य मानी जाती है; औरों की नहीं । काव्य-प्रकाशकार आदि कई पंडितों ने इस दोष का उल्लेख किया है ।

किसी-किसी पुस्तक में इस पद्य का तीसरा चरण इस प्रकार है—

अपेक्षते प्रत्ययमुत्तमं त्वाम्

यह पाठ 'लभ्यै' के कर्णकटुत्व से बच जाता है। बहुत संभव है, इस दोष से बचने ही के लिये किसी ने पूर्व-पाठ को बदल दिया हो। कालिदास की कविता में इस तरह के पाठांतर पंडितों ने कारण-वश कर दिए हैं, इस बात को कितने ही विद्वान् मानते है। मल्लिनाथ तक ने इसका अनुमोदन किया है। इस अनुमोदन का उल्लेख एक जगह पर हम पीछे कर आए हैं।

इस लेख का विस्तार बहुत बढ़ गया। इस कारण काव्य-प्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यानुशासन आदि ग्रंथों में दिखलाए गए दोषों में से केवल कुछ का उल्लेख करके अब हम इसे समाप्त करना चाहते हैं।

(१२) जुगुप्साव्यंजक

मनीषिताः सन्ति गृहेऽपि देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः ;
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः।

(कुमारसंभव, सर्ग ५, श्लोक ८)

इस श्लोक मे 'पेलव' शब्द जुगुप्साव्यञ्जक है।

(१३) ग्राम्य भाव-व्यंजक

कुमारसंभव के पाँचवें सर्ग का अड़तीसवाँ श्लोक यह है—

तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवरोमराजिः ;
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः।

काव्यानुशासन के कर्ता वाग्भट के मत में यहाँ 'मध्यमणि' शब्द से ग्राम्य भाव व्यक्त होता है।

इस श्लोक में एक बात और भी विचारणीय है। इसके आरंभ ही में 'तस्याः' पद है। उसका अर्थ यहाँ पर 'उसके' है। फिर चौथे चरण में 'तत्' शब्द भी है। उसका भी अर्थ 'उसका' या 'उसकी'

होता है। इस 'तत्' की कोई विशेष आवश्यकता न थी। उसके विना भी काम चल सकता था। इसी से टीकाकार मल्लिनाथ ने लिखा है—"तस्या इत्यनुवृत्तौ पुनस्तच्छब्दोपादानं वाक्यांतर त्वात्सोढव्याम्" अर्थात् 'तत्' शब्द दूसरे वाक्य में है, इसलिये उसका प्रयोग "सहन किया जाने योग्य है।"

(१४) अविमृष्टविधेयांश

[क]

जिस बात को मुख्यतया कहना है—जिस अर्थ का प्रधानता-पूर्वक प्रतिपादन करना है, उसकी मुख्यता या प्रधानता का ख़याल न रखकर, उस पर ज़ोर दिए विना ही, कथनीय बात कह जाने से अविमृष्टविधेयांश-दोष होता है। जो अंश विधेय है, वह जहाँ अच्छी तरह नहीं स्पष्ट होता है, वहाँ काव्यशास्त्र के ज्ञाता इस दोष की उद्भावना करते हैं—

स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरपुष्पकाञ्चीम् ;
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य।

कुमारसंभव के तीसरे सर्ग का यह पचपनवाँ पद्य है। पार्वती की पुष्पकांची अर्थात् फूलों की तागड़ी, का यह वर्णन है। कवि का आशय है कि यह तागड़ी क्या है, मानो काम के धन्वा की दूसरी डोरी है। उसे पार्वती के पास धरोहर के तौर पर उसने रख दिया है कि जब काम पड़ेगा, तब ले लूँगा। इस उक्ति में मौर्वी अर्थात् डोरी की प्रधानता नहीं है; प्रधानता है उसके द्वितीयत्व की। इसलिये 'द्वितीयमौर्वीमिव' न कहकर 'मौर्वीं द्वितीयामिव' कहना चाहिए था। 'इव' का सबंध 'द्वितीय' के साथ होना चाहिए था, 'मौर्वी' के साथ नहीं। सो बात नहीं हुई, इसी से यहाँ अविमृष्टविधेयांश-दोष हुआ। इस पद्य का जो पाठ हमने ऊपर दिया है, वही काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन में है। परंतु निर्णयसागर के छपे हुए कुमार-

संभव में निर्दोष पाठ 'मौर्वीं द्वितीयामिव' ही है। यदि ऐसा ही पाठ होता, तो पूर्वोक्त दोनो ग्रंथों के कर्ताओं को इसमें दोष दिखलाने का मौक़ा ही न मिलता। अतएव जान पड़ता है, कालिदास को इस दोष से बचाने ही के लिये किसी ने पुराने पाठ को बदलकर निर्दोष कर दिया है।

[ख]

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ;
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने।
(कुमारसंभव, सर्ग ५, श्लोक ७२)

पार्वती से ब्रह्मचारिवेशधारी शंकर अपने ही मुँह अपनी निंदा करते हैं—"रूप का तो यह हाल कि तीन आँखें; जन्म का पता नहीं; धन कितना है, यह दिगंबरत्व ही से प्रकट हो रहा है। हे बालमृगाक्षि! वर में जो बातें देखी जाती हैं, उनमें से भला एक भी बात त्रिलोचन में है? अर्थात् न रूप ही है, न रुपया ही पैसा है, न जन्म ही का पता-ठिकाना है। इस श्लोक में 'अलक्ष्यजन्मता' पद पर पंडितों को एतराज़ है। वे कहते हैं कि वर के जन्म का पता चले या न चले, वह ज्ञात हो या अज्ञात, यह कोई बड़ी बात नहीं। जो अपनी कन्या के लिये वर ढूँढ़ने जाता है, वह वर की जन्मता की—कब वर का जन्म हुआ, इत्यादि बातों की—खोज नहीं करता। खोज करता है वह वर की उत्पत्ति के विषय की—वर का बाप कौन है, मा कौन है, कुल कैसा है, इन्हीं बातों की वह विशेष खोज करता है। अतएव कालिदास को भी चाहिए था कि वह शंकर के मुँह से उनकी उत्पत्ति की बात कहलाते, जन्मता की नहीं। ऐसा उन्होंने नहीं किया, इसलिये उनकी इस उक्ति में भी अविमृष्टविधेयांश-दोष आ गया। 'अलक्ष्यजन्मता' की जगह यदि 'अलक्षिता जनिः' होता, तो इस दोष से उनका पूर्वोक्त पद्य बच जाता। यह बड़ा ही

सूक्ष्म विचार है। तिस पर भी मम्मट भट्ट ने कालिदास को नहीं छोड़ा। ऐसे दोषों की अपेक्षा वे दोष, जिनका उल्लेख लेख के आरंभ में हुआ है, विशेष गुरुतर हैं। परंतु साहित्यशास्त्र के आचार्य महाकवियों के भी छोटे-से-छोटे दोषों तक को बिना दिखाए नहीं रहे।

(१५) निहतार्थता

किसी-किसी शब्द के दो-दो, तीन-तीन अर्थ होते हैं। उनमें से कोई प्रसिद्ध होता है, कोई अप्रसिद्ध। जब कोई शब्द किसी ऐसे अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसका बोध कम, पर प्रसिद्ध अर्थ का बोध अधिक होता हो, तब वहाँ निहतार्थता-दोष माना जाता है। यथा—

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति;
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम्।
(कुमारसंभव, सर्ग १, श्लोक ४)

यह हिमालय का वर्णन है। सिंदूर और गेरू आदि धातु होने के कारण हिमालय धातुमान् है। इस 'धातुमान्' शब्द में भावार्थक प्रत्यय करने से 'धातुमत्ता' शब्द सिद्ध होता है। पर 'मत्त' शब्द, जिसका स्त्रीलिंग 'मत्ता' होता है, उन्मत्तता के अर्थ का भी बोधक है, और यह अर्थ अधिक प्रसिद्ध है। पूर्वोक्त पद कान में पड़ते ही इस अर्थ का भास भी होने लगता है। परंतु कवि को यह अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं। अतएव निहतार्थता-दोष हुआ।

(१६) क्रम-भंगता

[क]

भग्नप्रक्रम और अक्रम ये दो दोष संस्कृत-साहित्य के ज्ञाताओं ने पृथक्-पृथक् माने हैं। परंतु इनमें बहुत अधिक अंतर नहीं है।

इस कारण क्रम-भंगता नाम देकर हम इन दोनों प्रकार के दोषों का एक ही साथ उल्लेख किए देते हैं—

अभिज्ञान-शाकुंतल का एक पद्य यह है—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु,
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदञ्च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः।

इसके प्रत्येक चरण का सारांश है—

(१) भैंसे पानी में उछलें-कूदें।

(२) मृगों के झुंड छाया में पागुर करें।

(३) शूकरों के द्वारा मोथ-नामक घास खोदी जाय।

(४) मेरा भी धनुष विश्राम करे।

उदाहृत पद्य के पहले, दूसरे और चौथे चरण का कारक एक प्रकार का है, अकेले तीसरे चरण का दूसरे प्रकार का। अतएव कारक का क्रम भग्न हो गया। इससे भग्नप्रक्रम-दोष हुआ।

[ख]

पार्वती ने इसलिये बड़ी तपस्या की कि शंकर उनका पाणिग्रहण करें। शंकर ने उनकी परीक्षा करनी चाही। वह ब्रह्मचारी का रूप धारण करके पार्वती के पास आए। पूछने पर पार्वती की सखी ने तपस्या का कारण बतलाया। तब ब्रह्मचारिरूपी शिव ने अपनी बड़ी निंदा की, अनेक दोष अपने में दिखलाए, और पार्वती से कहा कि ऐसे अमंगल वेशवाले शिव के साथ विवाह का विचार छोड़ दो। इस पर पार्वती ने कहा—

विपत्प्रतीकारपरेण मंगलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा;
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः।

भावार्थ—सुनिए, जिनकी यह इच्छा हो कि उन पर विपत्ति न आए, या जो बहुत कुछ ऐश्वर्य-प्राप्ति के अभिलाषी हों, वे मंगल-द्रव्यों की यथेष्ट सेवा करें। वे चाहे जितनी सुगंधियाँ और मालाएँ आदि अपने शरीर पर धारण करें। उनकी बात जुदी है। परंतु सारा संसार जिसे अपना शरण्य समझता है, और जिसे किसी भी वस्तु की कामना नहीं है, उस महात्मा को तृष्णा से दूषित अंतःकरणवाले इन मंगल-द्रव्यों से क्या काम? इस पद्य के पहले चरण में तो कालिदास ने एकवचनात्मक 'मंगल' शब्द का प्रयोग किया; परंतु चौथे चरण में उसी मंगल के लिये विशेषण-सहित 'एभिः'—यह बहुवचनात्मक सर्वनाम लिखकर क्रमभंग कर दिया। मल्लिनाथ ने इस श्लोक की टीका लिखते समय 'मंगल' शब्द को जातिवाचक बतलाकर कालिदास के वचन-संबंधी इस दोष के परिहार की चेष्टा की है। इस समाधान से यथाकथंचित् संतोष हो भी सकता है, और नहीं भी हो सकता। यदि कोई कहे—

मंगल से कुछ भी नहीं योगीजन को काम;
इनकी क्या परवा उसे वह तो आत्माराम।

यहाँ पर यदि 'इनकी' का प्रयोग खटक सकता है, तो कालिदास के पद्य में 'एभिः' का प्रयोग भी खटक सकता है।

[ग]

पार्वती की तपस्या से शंकर बड़े प्रसन्न हुए। उनके साथ उन्होंने विवाह करना स्वीकार किया। इस पर पार्वती ने कहा कि आप ऐसा प्रबंध कीजिए, जिसमें पिता हिमवान् मेरा विधिवत् विवाह कर दें। शंकर ने इस बात को भी मान लिया। उन्होंने सप्तर्षियों को बुलाकर घटक का काम उनके सिपुर्द किया। वे हिमालय के पास गए, और विवाह की बातचीत ठीक करके महादेव के पास लौट आए। इस संबंध में कालिदास कहते हैं—

ते हिमालयमामंत्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ;
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ।

हिमालय से सब बातें ठीक करके वे लोग, अर्थात् सप्तर्षि, शंकर से फिर मिले, और उनसे यह कहकर कि काम सिद्ध हो गया, उनके द्वारा बिदा किए जाने पर, वे आकाश को उड़ गए। यहाँ पर 'अस्मै' और 'तत्' ये सर्वनाम विचारणीय हैं। 'अस्मै निवेद्य' का अर्थ है इससे निवेदन करके ; और 'तद्विसृष्टाः' का अर्थ है उसके द्वारा छोड़े या बिदा किए गए। तीसरे चरण में जिसके लिये सर्वनाम 'इस'का प्रयोग किया, उसी के लिये चौथे चरण में अनुपद ही 'उस'का प्रयोग किया गया। यह हिंदी तो है नहीं कि जहाँ जी में आया 'इस' लिख मारा, और जहाँ जी में आया 'उस'। संस्कृत-वेत्ता आलंकारिकों ने इसे दोष माना है। यदि किसी वाक्य में 'इस' लिखिए, तो 'इस' ही लिखते जाइए ; 'उस' लिखिए, तो 'उस' ही का सर्वत्र प्रयोग कीजिए। शास्त्रज्ञ मनमानी नहीं करने देते। वे इसे सर्वनाम-संबंधी भग्नप्रक्रम-दोष मानते हैं।

[घ]

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः ;
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।

(कुमारसंभव, सर्ग ५ श्लोक ७१)

भावार्थ—पिनाकपाणि शंकर के समागम की इच्छा से दो चीज़ें शोचनीय अवस्था को पहुँची हैं। एक तो चंद्रमा की कला, दूसरी तू, अर्थात् पार्वती। यहाँ पर जैसे 'कला' के आगे 'च' आया है, वैसे ही 'त्व' के आगे भी आना चाहिए था ; 'लोकस्य' के आगे नहीं। अतएव आलंकारिकों के मत में यहाँ अक्रम-दोष हुआ।

उपसंहार

बस, अब यहीं पर इस लेख को समाप्त करते हैं। यहाँ तक जो दोष दिखलाए गए हैं, वे दो-एक को छोड़कर, कालिदास के केवल रघुवंश और कुमारसंभव के हैं। प्राचीन टीकाकारों और अलंकार-शास्त्र पर ग्रंथ लिखनेवालों ने दो-चार के सिवा और इन सब दोषों का उल्लेख किसी-न-किसी रूप में किया है, अतएव यदि कोई इन दोषों के निराकरण करने का प्रयत्न करे, तो यह समझना चाहिए कि उसने इन सारे प्राचीन विद्वानों को परास्त करने की चेष्टा करने का साहस किया।

॥ इति ॥

परिशिष्ट

[ख]

'निदर्शन'पर विद्वानोंकी सम्मतियाँ

(पाण्डेय जगन्नाथप्रसाद एम्० ए०, बी० एल्०, काव्यतीर्थ
तथा पाण्डेय अवधेशप्रसाद-लिखित)

अबके जबसे 'सरस्वती'में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदीजीकी ओजस्विनी लेखनीसे 'कालिदासकी निरङ्कुशता'-शीर्षक लेखका प्रादुर्भाव हुआ है, तबसे हिन्दी-रसिकोंमें कुछ कौतूहलमयी जागृति दिखायी पड़ने लगी है। इस जागृतिके हेतुभूत श्रीमान् द्विवेदीजीको शतशः धन्यवाद है। द्विवेदीजीके उक्त लेखके गुण-दोषका विचार कई नामी विद्वानोंने कर दिया है। एप्रिलकी 'सरस्वती'में अपने लेखका समर्थन करनेके अभिप्रायसे द्विवेदीजीने प्रथम एक स्वतन्त्र लेख और फिर कई विद्वानोंकी सम्मतियाँ प्रकट की हैं। विद्वद्वर मनसारामकी पर्यालोचना अभी समाप्त नहीं हुई है। इस पर्यालोचनाको पढ़कर मालूम होता है, द्विवेदीजी बेतरह घबरा गये हैं। यही कारण है कि आपने विद्वानोंके प्रशंसा-पत्र छापकर हिन्दी साहित्यमें एक नयी प्रणालीका अवतरण किया है। इस प्रतिभा-स्फुरणके लिये भी आपको बहुशः धन्यवाद है। 'प्राचीन कवियोंके काव्यमें दोषोद्भावना'-शीर्षक लेखमें द्विवेदीजीने समालोचककी यथार्थ स्थितिके ऊपर बहुत कुछ लिख डाला है, पर क्या यह आडम्बर मनसारामकी पर्यालोचनाको तिरोहित करनेके लिये ही नहीं है? आप कहते

है—"समालोचक भी राग और द्वेष, द्रोह और दुराग्रह, ईर्षा और मात्सर्य आदिकी प्रेरणासे की गयी टीकाओंकी ओर दृक्पात नहीं करते। उन्हें घृणा-पूर्ण उपेक्षाको दृष्टिसे देखकर केवल हँस दिया करते है।" ठीक है; पर क्या आप सत्यताके ऊपर नज़र रखकर कह सकते हैं कि आपने अपने उद्दिष्ट गुणोंका कहाँ तक आदर किया है? आप तो अपने लेखकी पर्यालोचनासे यहाँ तक क्षुब्ध हो गये हैं कि प्रतिपद 'वदतो व्याघात' कर रहे हैं! आपको जो यह भ्रम हो गया है कि समालोचना पदार्थ ही हिन्दी-रसिकोंको अनिष्ट है, सो बात नहीं है। हम जहाँ तक जानते हैं, मनसारामने किसी दुराग्रह अथवा ईर्षाके वश होकर आपकी समालोचनाकी पर्यालोचना नहीं की है। हिन्दी-साहित्यमें अवश्य 'समालोचना-शास्त्रका' बहुत कुछ अभाव है—समालोचना-पदार्थ किसी साहित्य-प्रेमीको अनभिमत नहीं है। परन्तु आपकी जो यह धारणा हो गयी है कि आपकी समालोचना निदर्शन-स्वरूप है, सो सर्वथा भ्रान्तिमूलक है। आपके प्रशंसा-पत्र-दाताओंने भी आपकी सभी उक्तियोंको समञ्जस नहीं माना है। यदि कोई दूसरा विद्वान् आपके ही निर्दिष्ट पथका अनुसरण करता हुआ आपके लेखकी और प्रसङ्गतः प्राचीन आलङ्कारिकोंकी उक्तियोंकी समालोचना करे, तो आपको चिढ़ जाना उचित नहीं है। आपके लेखोंमें यह बहुत बड़ा दुर्वार 'अनौचित्य' खड़ा है। आपको सर्वथा अभ्रान्त माननेवाले अभी कम लोग हैं, क्योंकि अपने लेखोंमें कई जगह आपने 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' इस कहावतको चरितार्थ किया है। अब रही बात अशिष्ट शब्दोंके व्यवहारकी—सो आप ही विचारकर देखें कि प्राचीन आलङ्कारिकोंकी पद्धतिका आपने कहाँ तक आदर किया है। मनसारामने यदि कुछ अशिष्ट प्रयोग किये हैं, तो आप उनपर "केवल हँस दिया" करें—समालोचना चरितार्थ हो जायगी। आपकी 'प्रत्येक उक्तिका खण्डन' किसीको अभीष्ट

नहीं है—'निरङ्कुशता' और 'बूँदके' विषयमें जो कुछ कहा गया था, उसे केवल वाक्यालङ्कार समझिये। मनसारामकी दृष्टि इस ओर नहीं गयी है—अन्यथा आपके 'आरम्भ' और 'मृण्मय' आदि असङ्ख्य शब्दोंके 'अपाणिनीयत्वपर' भी विचार हुए बिना नही रहता। यों ही "काहेको"—"उसकी यथातथ्य नक़ल" आदि पद-विन्यासपर भी 'एतराज़' पेश किया जाता।

द्विवेदीजी महाराज! आप यह कभी न ख़याल करें कि हम किसी विशेषदलका विशेष पक्षपात कर रहे हैं। हम सिर्फ़ आपकी घबराहटको कम करनेकी चेष्टामें हैं। आपके निर्दिष्ट पथके पथिक हैं। आपने 'कालिदासकी निरङ्कुशतापर विद्वानोंकी सम्मतियाँ' प्रकाशित कर अच्छा नहीं किया। आपके विचारोंको सर्वथा अभ्रान्त किसीने नहीं ठहराया है। सबने केवल समालोचना-पदार्थकी आवश्यकता और उपादेयता ही बतायी है। इस विषयमें कदाचित् ही किसी विज्ञका विरोध हो। आपने व्यर्थ ही 'सिद्धसाधनकी' चेष्टा कर विज्ञापनबाज़ों-की नक़ल की है। हमारे एक विद्वान् मित्रको भी आपके प्रकाशित प्रशंसा-पत्रको देखकर यह कहना पड़ा है—"ऐसे विद्वानोंके प्रशंसा-पत्रोंके आगे मनसारामकी कौन सुनेगा?" देखिये, आपकी 'झटपटी'-ने कैसे अनर्थका अनिवार्य सामान खड़ा कर दिया! जो हो, समा-लोचना-सम्बन्धी साहित्यके गौरवरक्षार्थ हम यही कहेंगे कि मनसाराम अपना स्वतन्त्र विचार प्रकट करते जायँ। इससे द्विवेदीजीके स्वकीय कर्तव्योंका आदर न भी हो, तो न सही, किन्तु उनके शुभ वचनोंका अवश्य आदर होगा, और होता आया है। तैत्तिरीय आरण्यकका वचन है—"यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।" द्विवेदीजीके लेखकी उपयोगिताके विषयमें पण्डित-प्रवर श्रीमान् 'बार्हस्पत्य'जीका विचार अवश्य नितान्त यथार्थ है। आपने लिखा है—"अब रही यह बात कि सरस्वतीमें ऐसे लेखोंका छपना

हिन्दी-साहित्यके लिये लाभदायक है या हानिकारक, सो इस विषयमें मुझे खेदके साथ कहना पड़ता है कि हिन्दीके लिखने और पढ़नेवालों-की अभी यह अवस्था नहीं है कि उनके सामने ऐसे लेख रखे जायँ। पहले उनको यह सिखलाना चाहिये कि कालिदास आदि कौन थे, और उनमें क्या गुण थे। गुणोंका परिचय न होकर दोषोंका परिचय होना सर्वशः हानिकारक है।"

द्विवेदीजी का प्रथम लेख—'प्राचीन कवियोंके काव्योंमें दोषो-द्भावना' पढ़कर हमें दो-तीन ज्ञातव्य बातोंका पता लगा है। हम इसके लिये द्विवेदीजीके अत्यन्त अनुगृहीत हैं। हमें ख़याल था कि 'अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः' और 'ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः' तथा यतिभङ्गके विषयमें भी द्विवेदीजीने स्वतन्त्र विचार से काम लिया है, क्योंकि इन दोषोंका उल्लेख प्राचीन साहित्य-ग्रन्थों-में नहीं है। अबके मालूम हुआ है कि इनमें भी द्विवेदीजी स्वतन्त्र नहीं हैं—आपने इन दोषोंको भी बिना समझे बूझे दूसरोंके ग्रन्थोंसे उठाकर रख दिया है। आपने उपर्युक्त लेखमें S P. Pan-dit के विचारसे भी 'अपवाद इव' इत्यादि श्लोकमें उपमाकी हीनता बतायी है। पण्डित महाशयका लेख भी उद्धृत किया है—उसका अनुवाद भी बेखटके लगा दिया है—"अर्थात् समताके विचारसे इस उपमाकी चाहे जो योग्यता हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह उपमा-विशेष कवितानुयायिनी नहीं—इसमें कोई विशेष कवित्वकी बात नहीं; क्योंकि एक वैयाकरणिकके जीवनसे इसकी सामग्री ली गयी है।"

द्विवेदीजी महोदय! सच कहिये तो कि क्या आपने ही यही दोष दिखाया है? 'आम्रान्पृष्टः कोविदारानाचष्टे!' यदि आप कह देवें—हाँ—तो हम मनसारामसे अनुरोध कर उनकी टीका-टिप्पणी वापस करा देंगे। खेदकी बात है कि इसी प्रसङ्गमें आपने नन्दर्गीकर

महोदयकी भी 'रामायण-अभिज्ञताका परिचय' दे दिया। जब मनसारामने रामायणकी पङ्क्ति ही उठाकर रख दी है, तब हम किसको सच मानें? क्या वह श्लोक प्रक्षिप्त है? हाँ, मनसारामने यह नहीं कहा कि वाल्मीकीय रामायणमें 'चोंचकी' बात लिखी है या 'नखों'-की। यदि इस बातपर आपको कुछ कहना हो, तो फिर एक बार उसी अध्यायके ये श्लोक देखिये—

"नखाग्रैः केन ते भीरु दारितं वै स्तनान्तरम्। कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना। निरीक्षमाणः सहसा वायसं समुदैक्षथाः। नखैः सरुधिरैस्तीक्ष्णैस्तामेवाभिमुखं स्थितम्।" हाँ, इस घटनाके उल्लेखके बाद कालिदासने जो उत्प्रेक्षा की है, वह अच्छी नहीं मालूम होती। यदि यहीं तक आपका आक्षेप रहता, तो वह सह्य था। ऐसे ही स्थलोंमें मतभेद होना सम्भव है। 'यतिभङ्गके' विषयमें अभी मीमांसाका अवसर नहीं आया है। फेहरिस्तका निदर्शन अभी नहीं समाप्त हुआ है। यह बात है मात्रकी निरङ्कुशता की।

द्विवेदीजीने प्रथमतः अपने 'निरङ्कुशतावाले' लेखमें उत्तम देवता-विषयक सम्भोग-श्रृङ्गारके वर्णनका अनौचित्य दिखाया है। ऐसा ही कोई विरला प्राचीन साहित्य-ग्रन्थ होगा, जिसमें इस दोषका उल्लेख न हो। इस दोषपर मनसारामने जो कुछ लिखा है, वह युक्ति-सिद्ध होने पर भी प्राचीन आलङ्कारिकोंके मतके अनुकूल नहीं है। इस स्थलपर ध्वनिकारके इन वचनोंपर विचार होना उचित है—"द्विविधो हि दोषः। कवेरव्युत्पत्तिकृतोऽशक्तिकृतश्च। तत्राव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तितिरस्कृतत्वात्कदाचिन्नलक्ष्यते। यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झटिति प्रतीयते। परिकर श्लोकश्चात्र—अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते। तथा हि महाकवीनाम-प्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसम्भोगश्रृङ्गारनिबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिर-स्कृतं ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते। यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोग-

वर्णनम् ।" इसका सारांश यह है कि यद्यपि कुमारसम्भव आदि ग्रन्थोंमें उत्तम देवता-विषयक सम्भोग-श्रृङ्गारका उल्लेख है, वह अनुचित है, दोष-ग्रस्त है, तथापि महाकवियोंकी शक्ति—'वर्णनीयवस्तु-विषयनूतनोल्लेखशक्तित्वं' के आगे वह अनौचित्य छिप जाता है। सम्भोगको भी प्रतिभाशाली कवि इस प्रकारसे वर्णित करता है कि हृदय उस वर्णनमें अवरुद्ध होकर, विश्राम लेकर पूर्वापर विचार करने नहीं देता। सहृदय धुरीण इस विचारकी यथार्थतापर ख़याल करें—कैसा सूक्ष्म विचार है! मम्मटने भी इन्हीं ध्वनिकार आनन्दवर्धनका प्रमाण दिया है।

उपमाकी हीनताके विषयमें मनसारामने उचित सम्मति प्रदान की है। द्विवेदीजीने अपवाद और उत्सर्गके यथार्थ तत्त्वको समझने में कुछ जल्दी की है। इस उपमामें विशेष कवित्व न होनेपर भी साम्य यथेष्ट है, और द्विवेदीजीका निशाना चूक गया है—लक्ष्य भ्रष्ट हो गया है—मार्क मिस हो गया है। उद्वेगजनक उक्ति—ऐन्द्रिः किल इत्यादि —के विषयमें द्विवेदीजी एक बार रामायण और देख जायँ, विशेषतः सुन्दरकाण्डके ३८ और ६७ अध्याय। आपको 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'का 'ब्लाइण्ड लीडिङ्ग दी ब्लाइण्ड'का अर्थ मालूम हो जायगा।

अनौचित्यदर्शक उक्तिका उल्लेख हमें किसी प्राचीन साहित्य-ग्रन्थ में नहीं मिला है। मालूम नहीं कि द्विवेदीजीने नन्दर्गीकर आदि एडीटरोंकी टीका-टिप्पणीके सहारे इस दोषका उल्लेख किया है अथवा केवल अपने विचारके सहारे। जो हो, इस दोषको दिखानेकी चेष्टासे द्विवेदीजीका 'पौरोभाग्य' लक्षित होता है—दोष अत्यन्त दुरूह, फ़ार फेचेड् है। परन्तु इस दोषका समाधान मनसारामजीने जिस ख़ूबीसे किया है, उसकी जहाँ तक प्रशंसा की जाय, कम है। मनसारामने अपनी बुद्धि-का अच्छा चमत्कार दिखाया है। 'ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य

बध्नौ जलजं कुमारः'—इत्यादि श्लोकमें द्विवेदीजीको मनसारामने मुँह-तोड़ जवाब दिया है। इस समाधानसे इनका अगाढ़ पाण्डित्य प्रकट होता है। माघके १७वे सर्गके ११वें श्लोककी टीकामें मल्लिनाथने 'सुरतसमरयोः समरसत्वं व्यज्यते' यह वचन लिखा है। अर्थात् (इससे) सुरत और समरका समरसत्व व्यक्त होता है। जो वीर सुरत और समरको तुल्य ही समझता है—समरको सुरत-जैसा खेल समझता है—उसके शौर्य्यका क्या ठिकाना है? इसी हेतु कालिदासने जान-बूझकर 'प्रियोपात्तरस अधरोष्ठका' वर्णन कर अजके अतिशयित शौर्य्यको व्यक्त किया है। क्या ही सुन्दर, उपयुक्त और पाण्डित्य-पूर्ण समाधान है। हमें पूर्ण आशा है कि इस समाधानसे द्विवेदीजी स्वयं प्रसन्न होंगे। ब्रह्मचर्य्य धारण आदिके विषयमें भी निदर्शन-लेखकने युक्ति-सिद्ध ही बातें कही हैं। इस प्रसङ्ग पर हम एक नवीन टीकाकारकी सम्मति लिखे देते हैं—इसको मानना या न मानना सर्वथा द्विवेदीजीके अधीन है। कलकत्तेमें स्वर्गवासी पण्डित नवीनचन्द्र विद्यारत्न महोदय एक अच्छे साहित्यवेत्ता समझे जाते थे, उन्होंने अपने सम्पादित रघुवश मे लिखा है—"The Sastric prohibition 'गृहप्रवेशनीयहृयहोमादूर्ध्वं त्रिरात्र दशरात्रं वा दम्पती नियतौ स्याताम्' is binding on Brahmins only; and even if it were applicable to other castes it would not be unnatural to suppose that during the four days and nights that passed between the sway-amvara & the battle, the pair kissed each other Mallinath taking this view passes over the word प्रियोपात्तरसे without any comment" अर्थात् उक्त शास्त्रीय निषेध केवल ब्राह्मणोंके विषयमें है। यदि कहें कि और जातियोंके विषयमें भी उक्त निषेध है, तो यह अनुमान करना

अनुचित न होगा कि, स्वयंवर और समरके बीचमें जो चार दिन व्यतीत हो चुके थे, उनमें ही दम्पतीने अधरास्वादन कर लिया था। इसी विचारसे मल्लिनाथने 'प्रियोपात्तरसे' पर कुछ टीका-टिप्पणी नहीं की है। मल्लिनाथका चुप रह जाना द्विवेदीजीको यहाँ भी धोखा देता है। इस बातका पक्का प्रमाण दूसरी बार देंगे। हेमाद्रि-पर अधिक विश्वास भी द्विवेदीजीको भ्रममें डाला करता है।

रस - सम्बन्धीय अनौचित्यका समाधान भी मनसाराजीके पाण्डित्यका द्योतक है। श्रीकण्ठचरितका श्लोक बड़े मौक़ेसे आया है। क्षेमेन्द्रके सिवा और किसी आलङ्कारिकने इस अनौचित्यका उल्लेख नहीं किया है। विचार-पूर्वक देखनेसे इस अनौचित्यमें रसापकर्षकता स्पष्ट नहीं होती। मङ्ख की गिनती महाकवियों में है। इन्होंने भी उक्त वर्णनमें अनौचित्य नहीं देखा, नहीं तो कविकुलगुरुका इस प्रकार अनुकरण नहीं करते। जो हो, जब क्षेमेन्द्रने ऐसा कहा है, तो अनौचित्य मानना ही पडेगा—हम लोग सचमुच लकीरके फ़क़ीर प्रसिद्ध हैं। आलङ्कारिकोंने अनेक स्थलोंमें काव्य-गतिको नियन्त्रित कर रखा है।

अन्तमें द्विवेदीजीसे प्रार्थना है कि जैनाचार्य पं० विजयधर्म सूरि महोदयकी इस बातको वह अपनी प्रशंसावर्धक न मानें कि हेमचन्द्राचार्यने भी अपने काव्यानुशासनमें उनके प्रदर्शित कई श्लोकोंको दोषग्रस्त माना है। उक्त काव्यानुशासनमें उन्हीं दोषोंका उल्लेख है, जिनका और आलङ्कारिकोंने भी उल्लेख किया है। कोई नूतनता इस विषयमें नहीं है। द्विवेदीजीने तो सिर्फ़ प्राचीनोंके बताये हुए दोषग्रस्त श्लोकोंका ही उल्लेख किया है। जहाँ-जहाँ आधुनिकोंकी रायको मान लिया है, वहाँ-वहाँ द्विवेदीजी स्वयं समालोच्य हो गये हैं।

अबके इतना ही। द्विवेदीजी हताश न होवें। आपने हिन्दी-

साहित्यका बड़ा उपकार किया है। संस्कृत-साहित्यका—अँगरेज़ी साहित्यका—यदि अनुवाद द्वारा भी हिन्दी साहित्यमें समावेश हो जाय, तो कम सन्तोषकी बात नहीं है। अनुवादकतामें द्विवेदीजी सिद्धहस्त हैं।

विद्वद्वर मनसारामजीने श्रीद्विवेदीजी-प्रदर्शित निरङ्कुशताका निदर्शन कई सप्ताह हुए समाप्त कर दिया! इसके उपरान्त और भी कई महाशयोंके लेख एतद्विषयक प्रकाशित हुए! इतने दिनोंके बाद इस मीमांसाके प्रकाशित होनेका समयाभावके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है। जनवरी-मासको निरङ्कुशताकी मीमांसा हो चुकी है। पाठक इस विलम्बित प्रकाशके दोषकी मार्जना करेंगे।

व्याकरण-सम्बन्धी अनौचित्यका 'क' नम्बर बहुत कुछ ठीक है, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि कालिदासके समयमें पाणिनीय व्याकरणकी उतनी सख्त पाबन्दी नहीं थी, जितनी पीछे हुई है। "तदनु" और "जीवितापहा" दोनों शब्दोंपर जो कुछ विद्वद्वर मनसारामने लिखा है, बहुत उचित लिखा है। यदि द्विवेदीजी महाराज पाणिनीय व्याकरणकी पाबन्दीका पूरा-पूरा ध्यान रखते, तो ऐसी निरङ्कुश बातें कहकर अपनी व्याकरणताकी अवहेला होनेका मौक़ा न आने देते। उचित है कि आदमी जो कुछ लिखे, समझकर लिखे। 'संशयभङ्ग'-शीर्षक लेखमें कुछ दिन हुए इस विषयपर हमने अपने विचार प्रकट कर दिये हैं। "त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श"में मालूम होता है, कविने छन्दोऽनुकरण किया है। ऋग्वेदके "त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्" इत्यादि मन्त्रमें भी "त्रियम्बकम्" पढ़ना होगा, अन्यथा छन्दोभङ्ग होगा। और पढ़ने की चाल भी यही है। यदि द्विवेदीजीको विश्वास न हो, तो किसी वैदिक विद्वान्से पूछ डालें। और, यदि उसपर भी विश्वास न हो, तो एतत्सम्बन्धी ग्रन्थोंके पन्ने भी उलट डालें। यदि द्विवेदीजी-

को ग्रन्थका पता जानना हो, तो वह भी बतला दिया जायगा। "तां पातया प्रथम मास पपात पश्चात्" इत्यादिमें बौद्धकालकी संस्कृत-भाषा की सूचना मिलती है। अश्वघोषने 'बुद्धचरित्र'में ऐसे और भी कई प्रयोग लिखे है। द्विवेदीजी यदि एक बार बौद्ध-ग्रन्थोंको देख जायँ, तो सन्देह नहीं कि ऐसे निरङ्कुश प्रयोगोंका कारण मालूम हो जायगा। अश्वघोष पहले हुए कि कालिदास पहले हुए, यह निर्णय कर लेना सहज नहीं है। अध्यापक कोवेल (Cowell) ने अपने संस्कृत 'बुद्ध-चरित्र'की भूमिकामें गहरी गवेषणा करके यह सिद्ध किया है कि अश्वघोष कालिदाससे प्राचीन है। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि कालिदासपर बौद्ध-संस्कृतिका प्रभाव बहुत पड़ा था।

नाम-सम्बन्धी और इतिहास-सम्बन्धी अनौचित्य पर मनसारामने अच्छा मुँहतोड़ जवाब दिया है।

माघकी 'निरङ्कुशता'में द्विवेदीजीने बहुत झटपटीसे काम लिया है; नहीं तो ऐसी अटपट बातें 'यतिभङ्ग' के सम्बन्धमें न कहते। 'वामनवृत्ति'का हवाला देकर अच्छी तरह संशय भङ्ग कर दिया गया है!

पुनरुक्तिके विषयमें द्विवेदीजीने 'इन्दुः' और 'शुद्धिमत्तरः'के पारस्परिक औचित्यपर विचार नहीं किया है, परन्तु जब नक़ल करने पर ही आप उतारू हुए हैं, तब इससे क्या ज़रूरत। परन्तु नक़ल करने में भी आप सदा कृतकार्य्य नहीं होते। 'गतार्थत्वात्'को 'कृतार्थत्वात्' लिख डालते हैं। और यों ही 'काव्यानुशासन'से भी नक़ल करनेमें आपने भूल की है, ज़रा कष्ट करके द्विवेदीजी असली और नकली पङ्क्तियों का मिलान कर देखें। पाठक भ्रममें न पड़ जायँ, इसलिये यह बता देना आवश्यक हुआ। "अथवा मम भाग्य" इत्यादि श्लोकमें द्विवेदीजीकी सारी पोल खुल गयी है। आपने अपने विचित्र विचारसे अर्थमें बड़ा भारी अनर्थ घुसेड़ दिया है। भावकी सारी

कोमलता नष्ट हो गयी है। 'तद्विटपाश्रिता'से इन्दुमतीकी दयनीयता और वज्रकी दारुणता सूचित होती है। और भी कई ध्वनि निकल सकती हैं, पर यह सब कुछ द्विवेदीजीकी सरसताके आगे फीका है। 'क्रमभङ्गता'के विषयमें मल्लिनाथने जो समाधान दिया है, वह रसिकों के लिये यथेष्ट है।

विशेष वक्तव्य अब नहीं रह गया। द्विवेदीजीको ध्यान रखना चाहिये कि उनके विचारोंकी समीक्षाके सिवा और जो कुछ बातें कही गयी हैं, वे वैसी ही हैं, जैसी आपने ख़ुद हज़ारों बार लिखी हैं। हिन्दी जाननेवालोंकी समझमें आपकी गणना बड़े पण्डितों में है। आपको तौल-तौलकर बातें कहनी चाहिये, जिसमें लोग भ्रममें न पड़ने पावें। इसी प्रार्थनाके साथ हम इस छोटे लेखको समाप्त करते हैं। और, आशा करते हैं कि आप हमारे इन समाधानोंसे रुष्ट न होंगे। कालिदासपर कटाक्ष करना भी साधारण पण्डितोंका काम नहीं है

कालिदासकी समालोचना

(श्रीयुत पाण्डेय जगन्नाथप्रसाद एम्० ए०, बी०एल्०, काव्यतीर्थ-लिखित)

गत जनवरी-मासमें ज्यों ही सरस्वती-सम्पादनका दुर्वह भार फिर पण्डित-धौरेय महावीरप्रसाद द्विवेदीके अंसन्यस्त हुआ, त्योंही उक्त पण्डितजीने 'कालिदासकी निरङ्कुशता'-शीर्षक एक विचित्र लेख लिख कर और उसे अपनी मनोहर पत्रिकामें प्रकाशित कर हिन्दी-साहित्य-प्रेमियोंमें एक अभूतपूर्व कोलाहलका हेतु खड़ा कर दिया। उक्त लेखके अवश्यम्भावी बुरे परिणाम समाचार-पत्रोंके कालमोंमें अनुक्षण देख पड़ते हैं। द्विवेदीजीने बड़ी शीघ्रतामें यह लेख लिखकर अपनी चञ्चलताका परिचय दिया है। ऐसे लेख से हिन्दी-साहित्यकी

किस प्रकारकी उन्नति हुई है, और इसमें समालोचनाका कैसा निदर्शन माना जायगा, यह सभी विद्वान् आप समझ सकते हैं। श्रीयुक्त मनसाराम-नामक एक रसज्ञ विद्वान्ने प्रतिवाद शुरू कर दिया है—उनके अनेक समाधान बड़े मनोरम और वैदुषी-परिचायक हैं। वाक्य-विन्यास भी द्विवेदीजीके लेख के लिये उपयुक्त ही है। द्विवेदीजी के कई पक्षपाती संस्कृतानभिज्ञोंने मनसाराम पर अपना अज्ञान-प्रसूत, अपशब्दमय विष-वर्षण करना प्रारम्भ कर साथ ही भारत-गौरव कालिदासकी मिट्टी भी पलीद करना अपना परम श्लाघ्य कर्त्तव्य समझ रखा है। अनधिकारियोंके हाथमें ऐसे अमूल्य रत्नोंका पड़ जाना बड़े ही दुर्भाग्यकी बात है। उक्त पक्ष-पातियोंमें कितने ऐसे हैं, जिन्होंने समालोच्य विषयपर कुछ भी स्वतन्त्र विचार किया है? हाँ, एक प्रसिद्ध लेखकके साथ हो "येन केन-प्रकारेण प्रसिद्धिं लभते जनः" यह उक्ति तो चरितार्थ हो जाती है; पर इससे हिन्दी-साहित्यका गौरव न बढ़कर हीनता ही हो रही है। इस हीनता-सम्भूतिके कई कारण हैं। द्विवेदीजीने तो प्रथमतः प्राचीनोंकी धीर-गम्भीर विचार-पद्धतिका अनुसरण नहीं किया है। आप चाहे जिस साहित्य-ग्रन्थको देख जाइये, किसी महाकविके दोषपर वैसे वचन न पाइयेगा, जैसे द्विवेदीजीने प्रायः सभी स्थलों पर लिखे हैं। जिस धृष्टतासे द्विवेदीजीने अपने गुरुवर कालिदाससे जहाँ तहाँ दिल्लगी की है, उसका उदाहरण कदाचित् हो किसी ग्रन्थमें मिले। विद्वान् संस्कृताभिज्ञ पाठक निष्पक्ष हो विचार करें। यदि द्विवेदीजी प्राचीन साहित्य और टीका-ग्रन्थोंमें ज्यों-की-त्यों नक़ल कर लेते, तो वह सह्य था, पर जहाँ-जहाँ आप नवीन पद्धति पर चलकर ठोकरें खाते गये हैं (जिसका ज्ञान केवल हिन्दी जाननेवालोंको दुर्लभ है), वहाँ-वहाँ आपके वाग्विजृम्भणसे नवीन हिन्दी-साहित्यका उपकार न होकर प्राचीन संस्कृतका अपकार होना सम्भव है। ऐसे ही धृष्ट

कार्योंका सम्पादन अनधिकार चर्चा है। मैं पाठकोंसे सविनय निवेदन करूँगा कि वे काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, औचित्यविचारचर्चा और काव्यानुशासन देख जायँ, और तब मनसारामके लेखोंपर विचार-कर देखें कि उनका कथन कहाँ तक ठीक है। यह तो सिद्ध ही है कि द्विवेदीजी पण्डित-धौरेय होने पर भी—समालोचक-धुरीण होने पर भी—मनुष्य ही हैं; उनपर इतनी अमित श्रद्धा कर अज्ञानकी शरण लेना उचित नहीं है। मुझे इस लेखमें खण्डन-मण्डन करना अभीष्ट नहीं है। कहना केवल यही है कि श्रीयुत मनसाराम अपने कर्त्तव्यका पालन अच्छी तरह कर रहे हैं। उनके प्रमाणतया उद्दिष्ट ग्रन्थोंको भी विद्वान् ज़रूर देखें। व्यर्थ गाली-गलौज करना किस कामका? क्या हिन्दीभाषाभिज्ञ इस बातपर कुछ भी ध्यान न देंगे? विशेष ज़रूरत होनेपर।

नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्;
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः।

संशय

महाकवि कालिदासकी निरङ्कुशता दिखानेवाले पण्डित महावीर-प्रसादजी द्विवेदीकी निरङ्कुशताका निदर्शन करानेवाले श्रीयुत मनसारामजी महाराज,

आपकी प्रौढ़ पाण्डित्य-पूर्ण लेखमालाके लिये हम द्विवेदीजीके ही कृतज्ञ हैं, क्योंकि यदि वह महाकविके काव्योंकी समीक्षा न करते, तो आपको निदर्शक बननेका प्रसङ्ग कहाँसे आता?

आपने अपनी लेखमालाके आठवें कुसुममें यह ठीक लिखा है कि पाणिनीय नियमसे तो 'क्लेशापह' और 'तमोपह' शब्द ही सिद्ध होते हैं, और यदि 'जीवितापहा' चिन्त्य है, तो 'परकर्मापह' और

'सुरतक्रमापह' आदि शब्दोंकी साधुतापर आपने 'अमनुष्यकर्तृके च' के महाभाष्यका उल्लेख क्या समझकर किया है। वहाँ इन प्रयोगोंकी साधुताकी चर्चा ही कहाँ है। क्या आपको इनमें भी 'कृत्यल्युटो बहुलम्' की अपेक्षा हुई है।

इन प्रयोगोंको 'सप्तम्यां जनेर्डः'... ..'अन्येष्वपि दृश्यते' से क्यों नहीं बना लेते। नहीं तो सार्व्वकालिक क्विप् ही सही।

'शब्दकौस्तुभका कण्ठा' (भारतमित्र)

संशयभङ्ग

(पाण्डेय जगन्नाथप्रसाद एम् ए०, बी० एल्, काव्यतीर्थ-लिखित)

विगत सप्ताहके भारतमित्रमें किसी 'कण्ठा' महाशयने विद्वद्वर मनसारामके निरङ्कुशता-निदर्शनके एक स्थलपर संशयोत्थान किया है। आप लिखते हैं—"परन्तु 'जीवितापहा' आदि शब्दोंकी साधुतापर आपने (मनसारामने) 'अमनुष्यकर्तृके च' के महाभाष्यका उल्लेख क्या समझकर किया है। यहाँ इन प्रयोगोंकी साधुताकी चर्चा ही कहाँ है। क्या आपको इनमें भी 'कृत्यल्युटो बहुलम्'की अपेक्षा हुयी है।"

इसपर कण्ठाजीसे यह प्रार्थना है कि 'जीवितापहा'को ही शुद्ध बतानेके लिये महाभाष्यका उल्लेख मनसारामने नहीं किया था। कृत्प्रत्यय सभी बहुलकर होते हैं—इसपर 'कृत्यल्युटो बहुलम्'-का महाभाष्य प्रमाण है। इस साधारण नियमसे 'जीवितापहा' को शुद्ध मान लेनेमें कोई क्षति नहीं है। महाभाष्यकारके समयमें भी कई ऐसे शिष्ट प्रयोग थे, जिनको पाणिनीय - अनुशासनसे शुद्ध समझना कठिन था—'जीवितापहा' भी इसी शिष्ट प्रयोगके आश्रित है। व्याकरण सदा प्रयोगाधीन होता है, शिष्ट प्रयोग ही इस शास्त्रकी

आत्मा है। उक्त प्रकारके शिष्ट प्रयोगोंके उदाहरणमें ही 'अमनुष्य-कर्तृके च' के महाभाष्यका उल्लेख किया गया था। 'नगर घातो हस्तो'—यह प्रयोग शिष्ट-सम्मत होने पर भी अनुशासन-युक्त नहीं है, तथापि शिष्टताका आदर करनेवाले महात्मा पतञ्जलिने इसे शुद्ध माना है। ऐसे और भी सैकड़ों उदाहरण हैं। जब 'कृत'की बहुलता इन प्रयोगोंको आश्रय दे सकती है, तब 'जीवितापहा'ने ही क्या अपराध किया है, जो वह विमुख किया जाय?

कण्ठाजीका 'अन्येष्वपि दृश्यते'वाला समाधान भी ठीक है। टीकाकार मल्लिनाथने १७वें सर्गवाले 'परकर्मापहः' श्लोकमें इसी अनुशासनका आश्रय लेकर समाधान किया है।

कण्ठाजीका क्विप्‌वाला समाधानान्तर संशयाकुल है। 'जीविता-पहा'में 'ङीप्' की प्राप्ति दुर्वार है। 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' देखिए। 'डाबु-भाभ्यामन्यतरस्याम्'का भी यहाँ प्रसङ्ग नहीं है। किन्तु ऐसे प्रयोगोंमें 'ड'की ही सूचना जहाँ तहाँ मिलती है। परकर्मापहः, विपापहः, क्लमापहः आदि शब्द इसकी सूचना देते हैं।

कुछ दिन हुए मैंने द्विवेदीजी की पाणिनीय व्याकरणकी अभिज्ञतापर संशयान होते हुए अपने एक विद्वान् मित्रसे 'तदनु' और 'जीवितापहा' शब्दोंके सम्बन्धको निरङ्कुशतापर विचार करनेकी प्रार्थना की थी। इसके उत्तरमें उन्होंने मुझे एक लम्बा-चौड़ा पत्र लिखा, जिसका कुछ अंश मैं पाठकोंके मनोरञ्जनार्थ उद्धृत किये देता हूँ। यह शिष्टताके विरुद्ध होता है, जो मैं ऐसा करने पर उद्यत हूँ, पर उस अंशकी उपयुक्तता और मधुरता उसे प्रकाशित करने को बाध्य करती है। आशा है कि यह अतिक्रान्ति उक्त पत्र-लेखक महाशय क्षमा करेंगे। क्योंकि मैं उनका नाम नहीं प्रकाशित करता हूँ। आपने लिखा है—

"आज मैंने आपके पत्रसे प्रेरित होकर 'तदनु', 'जीवितापहा' पदोंपर कुछ गहरी गवेषणा की, बड़ा मज़ा आया। श्रीद्विवेदीजीने

पाणिनीय व्याकरणको ठीक देखा है कि नहीं, यह तो मुझे विदित नहीं, पर हेमाद्रि और चरित्रवर्धन तो नि सन्देह पाणिनिके व्याकरण-से पूरे परिचित प्रतीत नहीं होते। मालूम होता है, इन्हीं लोगोंकी टीकासे तङ्ग आकर मल्लिनाथने यह लिखा है—'भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता' इत्यादि।

"न-मालूम 'परकर्मापहः' में ठीक प्रयोग कैसे मान लिया। कहीं इसलिये तो नहीं कि वहाँ मल्लिनाथने 'अन्येष्वपि दृश्यते' लिखकर समाधान कर दिया है। अफसोस, जो बात मल्लिनाथने १७वें सर्गमें लिखी, यदि उसे ८वेंमें (जीवितापहा पर) लिख जाते, तो 'कालिदासकी निरङ्कुशता'का 'ग' नम्बर यों गर्वके साथ गर्दन न उठाता। बेचारा 'अपि' अपनीसी बहुतेरी कह रहा है, पर उसकी कोई नहीं सुनता।

"और हेमाद्रिकी 'गणदर्पणोक्ति'के पूर्वार्ध 'क्लेशराग' इत्यादिमें तो 'पाप' का पाठ नहीं है—फिर अन्तमें 'पापापहः शिवः'में यह 'पाप' कहाँसे आ कूदा ? यदि यह आदिका प्रताप है, तो फिर जीवित ने क्या अपराध किया है ? क्या 'आदि' देवकी कृपा 'जीवित'को जीवित न रखेगी ? ये लोग (हेमाद्रि आदि) ज़िन्दगी (जीवित) से क्यों बेज़ार हैं ? 'अनवभुक्तसुरतक्लमापहाम्' मे प्रयोग ठीक कैसे समझा गया ? कहीं इसलिये तो नहीं कि 'क्लम' और 'क्लेश' समानार्थक हैं। तब तो बड़ी गड़बड़ होगी। 'स्वरूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'-की क्या गति होगी ? फिर तो 'अग्नेर्ढक्'से 'वह्नेर्ढक' भी हो जायगा, और ऐसी दशामें हेमाद्रि 'गणदर्पणोक्ति'वालेने 'क्लेशरोगतमो दर्प-दुःखरोगज्वरादिषु' में व्यर्थ ही 'क्लेश', 'रोग' और 'दुःख' इन सबको इकट्ठा किया। एक ही काफी था। और हाँ, 'परकर्मापहः'को ठीक मान लेनेमें 'ढः कर्मारवपहन्ते, स्याद्' का ......'कर्मस्व' पद तो कारण नहीं हुआ ? कहीं यह अभिप्राय-विशेषवाली बात तो नहीं

हो गयी ! और 'तदनु' तो इतना साफ है कि इसपर ननु-नचकी ज़रूरत ही नहीं।"

विद्वद्वर पण्डित पद्मसिंह शर्म्माकी अभिप्राय-विशेषवाली खोजकी बात 'सरस्वती'के सतसई-संहारके पाठकोंको मालूम होगी।

(भारतमित्र, जे० सु० १४, सं० १९६८)

जयपुर-निवासी पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए० लिखते हैं—

जयपुर आकर मैंने श्रीयुत मनसारामजीकी लेखमालाको साद्यन्त पढ़ा। कालिदासकी निरङ्कुशतापर जो कुछ द्विवेदीजीने लिखा है, वह भी मैंने ध्यानसे पढ़ा है।

मेरे मतमें जिन लोगोंका यह तर्क है कि कालिदासकी समालोचना ही नहीं हो सकती, और यदि हो भी सकती है, तो पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी उसके करनेके उपयुक्त पात्र नहीं हैं, वे लोग बड़ी ही भूल करते हैं। उनके मतका कोई भी साहित्य-प्रणालीका अभिज्ञ समर्थन नहीं करेगा, और मुझे यह देखकर हर्ष हुआ है कि मनसारामजीकी प्रौढ़, पाण्डित्य-पूर्ण लेखमालामें इस बातकी सूचना नहीं है। न यही कहना ठीक है कि द्विवेदीजीने कालिदासका अपमान करनेको और अपनी सर्वज्ञता स्थापन करनेको लेख लिखे हैं। महाकविका मान यदि कोई ऐसे यत्न भी करे, तो उनसे हिल नहीं सकता, और न लोग इस बातके लिये तैयार हैं कि महाकविकी प्रतिमाको उठाकर उस जगह द्विवेदीजीका अपने हाथों रँगा चित्र स्थापन कर दें। द्विवेदीजीने कहीं भी ये दावे नहीं किये हैं। उन्होंने स्थान-स्थानपर अपनी शालीनता दिखायी है, महाकविकी ओर अपनी भक्ति प्रकट की है, और वारंवार कहा है कि इस लेखको

वाग्विलास-मात्र समझा जाय। इन लेखोंको पढ़नेसे लोगोंको कालि-दासकी कृतिके अनुशीलनकी ओर रुचि हुई है, और नही तो श्रीयुक्त मनसारामजीके उत्कृष्ट लेखोंके निमित्त कारण होने से द्विवेदी-जीके इन लेखोंको महत्त्व देना चाहिये।

कालिदासकी कवितामें जो दूषण द्विवेदीजीने उद्भावन किये हैं, वे सब दूषण ही है, इस पर मतभेद हो सकता है। वे सब दूषण द्विवेदीजीकी अपनी पूँजी हैं ही नही। मम्मट और क्षेमेन्द्र दक्षिणा-वर्त और नदीजिर जिस मार्ग पर चले है, उस पर चलने के लिये द्विवेदीजीको क्यो रोकना चाहिये, और उसी पर चलने के लिये मनसारामजीकी ओर क्यों क्रोध करना चाहिये? प्रत्येक साक्षर व्यक्ति-को अधिकार है कि कविके काव्यकी आलोचना करे, प्रत्यालोचना करे। जिसका जैसा हृदय होता है, वह वैसा ही भाव कविकी कविता-में देखता है। कोई काव्य आज तक पूरी तरह निर्दोष या पूरी तरह निर्गुण नहीं मिला। इन दोनो वाग्विलासोंसे मैं यह तात्पर्य निकालता हूँ कि महाकविके कुछ लेखोंमें द्विवेदीजीने प्राचीन लक्ष्य-लक्षणकारकोंकी शैलीपर चलकर दोष निकाले है, और श्रीयुत मनसारामजीने द्विवेदीजीकी शैलीपर चलकर उन दोषोंका समाधान किया है, और सिद्ध करने का यत्न किया है कि वे दोष द्विवेदीजीकी दृष्टिमें ही है, महाकविकी रचनामे नहीं। न तो द्विवेदीजीको ही हम कुछ कह सकते है कि उनमें मम्मट, क्षेमेन्द्र आदिकी क्षुण्ण प्रणालीपर क्यों पैर रखा, और न द्विवेदीजी मनसा-रामजीको कह सकते है कि आप मेरी लीकपर क्यों चले हैं। हाँ, यह मुझे सखेद कहना पड़ता है कि द्विवेदीजीके लेखमें हास्य-परिहास-की मात्रा कम होने पर भी मनसारामजीकी लेखमालामें ताने-तिश्नेकी मात्रा अधिक है—व्यक्तिगत टिप्पणियोंके छींटे भी हैं। यह भी देखा जाय, तो हिन्दीमें गड्डलिका-प्रवाह हो गया है। मनसा-

रामजीने अवश्य ही बिहारी-विहारके समालोचक और भ्मर्तव्यशेप आत्मारामकी परिपाटीका अनुगमन किया है। यही क्यों, हिन्दी कालिदासकी आलोचना लिखते समय द्विवेदीजीने जो चाल चली थी, और सतसई-संहारमें पद्मसिंह शर्माने जो प्रथा आश्रयण की थी, उनके देखते मनसारामजीकी कृति कुछ विस्मयकारक नहीं है। समालोचनामें कुछ छेड़-छाड़, कुछ छींटे देना एक प्रकारकी स्वीकृत-सी चाल हो गयी है। अमरु महाकविके अमरुशतकमें किसी कवि-ने थोड़े-से क्षेपक मिला दिये हैं। उसपर टीकाकारने खूब छींटे उड़ाई है। एक पद्यमें नायक अपनी नायिकाके विषयमें कहता है कि जबसे प्रेम-पिपासित मैंने उसका अधर पिया, तबसे मेरी तृष्णा बढ़ती ही जाती है; क्यों न हो, उसमें ऐसा ही लावण्य है। लावण्य-का अर्थ सुन्दरता (नमकीनपन) भी है। लवण ज़्यादा खानेमें प्यास बढ़ती है, यह इसका चोज है। टीकाकार इसपर कहता है कि खूब ! यह शायर शायद साँभरकी नमककी खानका खोदनेवाला मज़दूर है, उसे नमककी प्यास ही सूझती है। अतएव यदि इन हास-परिहासों को छोड़ दें, और उनकी उपेक्षा करें, तो हम मनसा-रामजीके लेखोंमें पाण्डित्य, गवेषणा, तत्त्वस्पर्शी कविताके भावावबोध-की ज्योति और वादजल्प वितण्डा तीनों के करने की शक्ति पाते हैं, जिससे उनकी लेखमाला बड़े महत्त्वकी हो गयी है।

"द्विवेदीजीने कालिदासके कुछ काव्योंपर जो उट्टङ्कनाएँ की हैं, उनकी भी गुञ्जायश है, और उनपर मनसारामजीने जो पुनरुट्टङ्कना की है, उनकी भी गुञ्जायश है। न द्विवेदीजी ही अदूरदर्शी हैं, और न मनसारामजी ही जले हुए बेसमझ हैं। कई द्विवेदीजीके आक्षेप मनसारामजीकी व्याख्यासे कट गये हैं। (जैसे विटप और विटपी-वाला) और कईपर उनके व्याख्यानमें एक प्रकारका प्रकाश पड़ा है, जो उनकी वास्तव अवस्थाको स्पष्ट दिखाता है। द्विवेदीजीके भ

से-बड़े मित्र भी यह न कहेंगे कि सब आक्षेप यथार्थ हैं, वे यह कहेंगे कि आक्षेप करनेका हक़ द्विवेदीजीको ज़रूर है। मनसा-रामजीके मित्रोंको भी यह कहनेका साहस नहीं है कि आँधीके सामने मेघकी तरह द्विवेदीजीके सभी आक्षेप उड़ गये हैं। यही क्यों, इन दोनों पंडित-धुरीणोंके लेखोंको पढ़कर प्रत्येक मनुष्य—साहित्यवेत्ता सहृदय मनुष्य—महाकविके लेख-विशेषोंपर भिन्न-भिन्न मत विशेष स्थापन करेगा। यदि मनसारामजीकी लेखमालाको पढ़कर कोई यह गमक निकाले कि द्विवेदीजी अनभिज्ञ और हठी हैं, तो वह उतना ही दोषी है, जितना द्विवेदीजीकी लेखावलीको पढ़कर कालिदासको अकवि समझनेवाला।

मैं दो उट्टङ्कनाओं पर अपना मत लिखता हूँ—

(१) द्विवेदीजीने काकके सीताजीके स्तनान्तरके नखोंसे विदा-रण करनेके प्रसङ्गको जुगुप्सित कहा है, और महाकविकी पौरो-भाग्यवाली उत्प्रेक्षाको और भी जुगुप्सित कहा है। उन्होंने तुलसीदासके लेखसे अंश उद्धृत किया है कि तुलसीदासने चरण-विदारण की चर्चा की है, और वाल्मीकि-रामायणसे भी श्लोक देकर दिखाया कि वहाँ भी स्तन-विदारण की चर्चा नहीं है। अच्छा, मनसारामजीने काण्डान्तरके वाल्मीकिके श्लोक उद्धृत करके दिखाया है कि स्तन विदारणका प्रसङ्ग वाल्मीकिका ही है, कालिदासकी अपनी उपजका नहीं। ऐसा करने से कालिदास इस आक्षेपसे तो बरी हो गये कि उन्होंने स्तनान्तरके विदारणकी कल्पना की, परन्तु इससे नहीं हुए कि उनके काक पर प्रियोपभोग चिह्नोंपर पौरोभाग्य करने की उत्प्रेक्षा की है। यह उत्प्रेक्षा कालिदासकी अपनी है, और उसके लिये महाकवि दोषी है। व्यास, वाल्मीकिमें जो क्षमा की जा सकती है, वह बात कालिदास, भवभूति में नहीं क्षमा की जा सकती। मनसारामजीवाले श्लोक क्षेपक सिद्ध नहीं हैं, तो

भी यही निकला कि वाल्मीकिने स्तनान्तर-विदारणका उल्लेख किया है। क्या उसको छिपाना महाकविका धर्म न था। महाकवि न केवल उस घावको ही छिपाता है, प्रत्युत उसपर पौरोभाग्य-वाली उत्प्रेक्षाका नमक और छिड़कता है। ऐतरेय ब्राह्मणकी श्रुतियोंमें एक जगह पुत्रकी महिमा गायी जा रही है। उसकी स्तुति करते-करते सरल-हृदय स्पष्टवादी वैदिक कवि यहाँ तक लिख गया है कि—

नापुत्रस्य लोकोस्तीति सर्वे पशवो विदुः;
तस्माच्च पुत्रो मातरं स्वसारं चाधिरोहति।

सीधे समयके उस सीधे कविकी मुँहफट उक्तिको लेकर यदि आजकल कोई कवि वही बात कहे, तो क्या हम उसका समर्थन करेंगे? खानके दरवाज़ेपर काम करनेवालोंके पास खरदरी धातुमें यदि कुछ गन्धक-कङ्कर मिला हो, तो सहा जा सकता है, परन्तु चतुर जौहरीके खरादख़ानेमें यदि वह कङ्कर और वह दाग़ न मिटाया जाय, तो अवश्य खटकता है। यह नहीं कि महाकवि कालिदासने और जगह व्यास-वाल्मीकिके 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' अनुसरण किया है। नहीं, उन खानोंके अनगढ़ पत्थरोंको लेकर महाकविने अपनी प्रतिभाकी ओपसे उन्हें सच्चे नगीने बना दिया है। उदाहरणमें शकुन्तलाको लीजिये। महाभारतकी शकुन्तलाने कण्वके आश्रममें ही बच्चा जन दिया है, और वह पाँच वर्षका हो गया है, तब माता उसे उँगली पकड़ राजाके यहाँ ले जाती है। कालिदाससे यह नहीं सहा गया कि विदग्ध, धर्मात्मा राजा पत्नीको यों चिरकाल तक धोखा देकर छोड़ जाय, और कण्व गान्धर्व विवाहसे गर्भवती पुत्रीको अपनी छातीपर रखे। उसने राजासे तो एक अँगूठी दिन गिननेको शकुन्तलाको दिलवायी, और कण्वसे आते ही शकुन्तलाको राजधानी भिजवाया। महाभारतके दुष्यन्तने शकुन्तलाको व्यभिचारिणी आदिक गाली दी है, और

"निघृष्टा तव योनिश्च" आदि कहा है। शकुन्तलाने भी उसे ख़ूब ऍंड-बैंड सुनायी है। पीछे जब राजाने शकुन्तलाको स्वीकार किया है, तो राजाने बेशरमपनसे यह कहा है कि तेरी परीक्षाके लिये मैंने इतनी बातें बनायी थी। इधर कालिदासने अपनी शकुन्तलाको इन कुवाच्योंसे बचानेके लिये राजाको बहुत ही मृदुभाषी और धर्मभीरु बनाया है, और राजाको जान-बूझकर स्त्री-परित्यागी होनेके कलङ्कसे बचाने के लिये दुर्वासाके शापकी और शक्रावतार तीर्थ में अँगूठी खो जानेकी कथा गढ़ी है। यह कोई न कहे कि ये कथाएं कालिदासके मस्तिष्कसे प्रसूत नहीं हैं, उसने पद्मपुराण से ली हैं। सिद्धान्त यह है कि पद्मपुराणकारने ही कालिदासकी रची-रचाई आख्यायिकाको अपने यहाँ उतार लिया है। अस्तु। जैसे कालिदासने दुष्यन्त और शकुन्तला-के उस ग्रामीणपनेको दबाकर वह सुन्दर चित्र बना दिया, जिसकी प्रशंसामें जर्मन-पण्डित मरते-मरते गीत गाता रहा, वैसे ही हम उससे यह आशा करते कि सीताजीके स्तनों परके काकके चरण-चिह्नोंपर—यदि वे सच्चे भी होते—वह पर्दा डाल देता। परन्तु उसने यह नहीं किया, यही नहीं, उलटी पौरोभाग्यवाली उत्प्रेक्षा लगा दी, जो दुरा-चारी जयन्त के भविष्यत् दण्ड के लिये उपयुक्त होने पर भी औचित्यसे कोसों दूर है।

परन्तु यह मेरा मत है। औरोंका मत यह हो सकता है कि इतना बड़ा पाप बिना कराये जयन्तको इतना बड़ा दण्ड क्यों दिलाया जाता?

(२) अस्तु। अब 'प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे'वाली बातको लीजिये। उसपर जो कुछ द्विवेदीजीने लिखा है, उससे मैं सहमत नहीं हूँ। उसे मेरी तुच्छ मतमें केवल शुष्क लकड़तोड़ प्रौढ़वाद कहना चाहिये। उसमें Puritanपनेकी बातोंको पढ़कर उस वृद्ध सामवेदीका स्मरण आ गया, जिसने यह श्लोक कहा था कि—

सामगायनपूतं मे नोच्छिष्टमधरं कुरु;
उत्कण्ठितासि चेद्भद्रे वामकर्णं ददस्व मे!

और जहाँ गृह्यसूत्रोंकी और धर्मसूत्रोंकी दुहाई द्विवेदीजीने दी है, वहाँपर वात्स्यायन-प्रणीत कामसूत्रका यह खण्ड याद आया कि--

रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नव शास्त्रं न च क्रमः।

संक्षेपसे मैं यह कह सकता हूँ कि मनसारामजीकी आलोचना योग्यता और गवेषणाको लिये हुए है, और जगह-जगहपर पाण्डित्य दिखला रही है। और, महावीरप्रसादजीने जो कालिदासकी निरङ्कुशतापर कुछ लिखा है, उसपर 'अब्रह्मण्यं अब्रह्मण्यं' चिल्लानेकी ज़रूरत नहीं।

निरङ्कुशता और निदर्शन

(हरद्वार-ऋषिकुलके प्रधानाध्यापक, 'संस्कृत-चन्द्रिका'-सम्पादक महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी व्याकरणाचार्य्य, न्यायशास्त्री-लिखित)

प्राचीन कवियोंपर श्रद्धा और गुण-ग्राहिता होने पर भी अपनी 'तीन लोकसे न्यारी' प्रकृतिसे लाचार होकर श्रीमान् महावीरप्रसाद द्विवेदीजीने जो सरस्वतीके २ अङ्कोंमें कालिदासकी 'निरङ्कुशता' दिखलायी है, उसे मैंने आदिसे अन्ततक ध्यानसे पढ़ा है। श्रीमान् द्विवेदीजी स्वयं ही यह लेख लिखते हुए इसके भविष्य परिणामके विषयमें कितने चिन्तित थे--यह उनके उपक्रम और उपसंहारसे स्पष्ट विदित होता है। आपने आदि और अन्तमें अपने समालोचकोंका मुँह बन्द करनेका विचित्र प्रयास किया है। उपसंहारमें तो कुछ उठा ही नहीं रखा। इतने ज़ोरसे समालोचकोंको डराया कि शायद आपके विचारसे अब तो इस लेखपर क़लम उठानेकी शक्ति बड़े-बड़े

पण्डितोंकी भी नहीं हो सकती, बेचारे हिन्दीवालों की तो कथा ही क्या ? अपने दिखाये हुए दोषोंको प्राचीन आलङ्कारिकोंके सम्मत बताते हुए आप आज्ञा करते हैं कि—'अतएव यदि कोई इन दोषोंके निराकरण करनेका प्रयत्न करे, तो यह समझना चाहिये कि उसने इन सारे प्राचीन विद्वानोंको परास्त करने की चेष्टा करने का साहस किया।' जी हाँ, बस हो चुका, अब क्यों कोई प्रयत्न कर-कर इतना साहसी बनेगा। आप तो सब कुछ करके टट्टीकी ओटसे बेफ़िक्र हो जाइये, परन्तु यदि आपसे कोई पूछनेका साहस करे कि भगवन्, जब आप स्वयं कवि-कुल-गुरु कालिदासपर वाग्बाण वर्षण करते हुए किञ्चित् भी सङ्कुचित नहीं होते, तो फिर सम्मटादिकी दुहाई देकर औरोंका मुँह बन्द करना कहाँ तक न्याय है, कितना निष्पक्षपात है, तो इसका उत्तर देनेमें कदाचित् श्रीमान्‌को कुछ कष्ट हो सकता है।

अतएव कदाचित् आपने केवल प्राचीनोंके ही भरोसेपर रहना उचित न समझकर वर्तमान दिग्गज विद्वानोंके भी सार्टीफ़िकेट एप्रिलकी सरस्वतीमें छाप देनेका कष्ट उठाया। 'अनस्थिरता' आदिके कोलाहलसे यह तो निश्चित ही हो चुका है कि हिन्दी-साहित्यमें आपके 'जी हुज़ूर' 'जो आज्ञा'वाले भक्तोंकी कमी नहीं है। उनके समाजमें आप जो कुछ फ़रमावें, वह बावन तोला पाव रत्ती ही माना जायगा। अब जब दो-एक संस्कृतके विद्वानोंके भी सार्टीफ़िकेट मिल गये, तो बस 'जीत लिया क़िला', अब कौन विपक्षमें मुँह खोलनेकी हिम्मत कर सकता है। जिसकी चाहें प्रतिष्ठा और जिसकी चाहें अप्रतिष्ठा करना आपके ही हाथ में तो रह गया। परन्तु हर्षकी बात है कि हिन्दी-साहित्यमें एकदम व्यक्तिगत साम्राज्य (शख़्सी हुकूमत) का समय अब नहीं रहा। इसीसे श्रीमान् द्विवेदीजी-जैसे प्रकाण्ड पण्डितोंका भी सुख-स्वप्न पूरा नहीं होने पाता, और कोई-न-कोई साहसिक या महा-साहसिक इनकी समालोचनाकी भी बेअदबी कर ही बैठता है।

इसका ही प्रत्यक्ष दृष्टान्त इस समय मनसारामका लेख है। मनसाराम जिस प्रकारसे निरङ्कुशताका निदर्शन कर रहे हैं, वह उचित और प्रशंसनीय मार्ग है। मेरा जहाँ तक ख़याल है, मैं कह सकता हूँ कि मनसारामने कहीं असत्य, असभ्यता, हठ, दुराग्रहसे काम नहीं लिया। हाँ, इतना अवश्य है कि उनकी सरस और सरल हिन्दी मज़ाक़ से ख़ाली नहीं है, परन्तु यह ऐसी आलोचनाओंका एक प्रकार भूषण ही कहा जा सकता है, इसे कोई बुद्धिमान् अधिक दूषण नहीं कह सकता। इसके अतिरिक्त सर्वांशमें चाहे मनसारामका लेख ठीक लक्ष्यपर पहुँचा हुआ न हो, किन्तु अधिकांश निरङ्कुशताके उत्तर उसमें युक्ति-युक्त, गवेषणा-पूर्ण और अधिक चमत्कारी हैं, यह स्वीकार करनेमें कदापि संकोच न होना चाहिये। यह बात दूसरी है कि द्विवेदीजी और उनके सीमातिक्रान्त श्रद्धालु जन इस आलोचनाको निरी असत्य, असभ्य, अनादरणीय समझें, किन्तु मेरी बुद्धिसे तो यदि प्राचीन महाकवियोंकी समालोचना करना पाप नहीं है, तो उन समालोचनाओंकी समालोचना करना भी कोई महापाप नहीं है। आश्चर्य है कि जो महाशय अपने कार्यको युक्ति-युक्त बनानेके लिये समालोचनाओंकी आवश्यकताका ढिंढोरा पीटते हैं, वे ही अपनी समालोचना होनेपर उस आवश्यकताको भूल जाते हैं। कई एक विद्वानोंने यद्यपि 'निरङ्कुशता'-जैसे निबन्धोंकी उपयोगिता स्वीकार की है, और प्राचीन आलङ्कारिकोंके अभिमत दोषोंके अतिरिक्त जो दो-चार नवीन उद्भावनाएँ द्विवेदीजीकी अपनी हैं—उनको भी साहित्य-शास्त्रकी अपरिच्छिन्नता प्रमाणित करते हुए उचित स्वीकार किया है, किन्तु मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो उस अपरिच्छिन्नताके कर्णधार होनेका ठेका श्रीमान् द्विवेदीजीको ही नहीं मिल सकता। द्विवेदीजीने तो कहीं-कहीं प्राचीनोक्त दोषोंका समन्वय करनेमें भी अपने अगाध पाण्डित्यकी सीमा इस तरह दिखा डाली है, जिसे

देखकर आश्चर्य और खेदसे स्तब्ध हो जाना पड़ता है। और, द्विवेदीजीकी नवीन उद्भावनाएँ तो उनकी बीमारी न मिटने का प्रत्यक्ष प्रमाण दे रही है। वास्तवमे आपका चित्त अभी पूरा स्वस्थ नहीं है, नहीं तो कई बातोंमें आश्चर्य होता है कि एक विवेचक विद्वान्‌की लेखनीसे ऐसी बातें किस प्रकार निकल सकती हैं। साथ ही मैं इस विषयमे 'बार्हस्पत्यजी' (जिनका कि सार्टीफिकेट द्विवेदीजीने प्रकाशित किया है) से पूर्ण सहमत हूँ कि हिन्दी-साहित्यकी वह दशा अभी मनोरथके भी बाहर है कि जिसमें ऐसे दोषोंकी विवेचनाका भी अवसर हो। एव सस्कृत-साहित्यके मर्मज्ञोंमें भी जब इनमें से अधिकांश विषयोंपर मतभेद ही हो सकता है, तो भाषा-भेदके कारण हिन्दीमें तो ये दोष प्रायः अनुपयुक्त ही हैं। फिर ऐसे दोषोंका भाषामें अनुवाद करनेका क्या उद्देश्य हो सकता है? अतएव यह निरङ्कुशता अयुक्त और अनुपयुक्त भी हुई है। हाँ, चित्त-विनोदकी तो बात ही निराली है, जिस किसी तरह प्राचीनोंकी निन्दा कर लेनेमें ही जिनका चित्त विनोद होता है, उनसे कोई कह ही क्या सकता है। अस्तु, अवसर हुआ, तो अपने भी विचार इन विषयोंपर पाठकोंके सम्मुख उपस्थित किये जायँगे। आज 'मनसारामजी'-से ही अनुरोध है कि वह अपनी सरस लेखमाला द्वारा अवश्य निरङ्कुशताकी पूर्ण आलोचना कर हिन्दी-पाठकोको मर्म-ज्ञानसे उपकृत करे। साथ ही बेअदबी माफ़ हो, तो श्रीमान् द्विवेदीजीसे भी निवेदन है कि अभी आप कुछ काल विश्राम और कर बीमारी मिटानेका ही प्रयास करते, तो भविष्यमें पाठकोंका बड़ा उपकार कर सकते।

'कालिदासकी निरङ्कुशता' और 'निरङ्कुशताका निदर्शन'

बङ्गाल-गवर्नमेण्टके प्रधान हिन्दी-अनुवादक श्रीमान् पण्डित सोमनाथ झाड़खण्डी बी० ए०-लिखित)

कालिदासके अनौचित्यपर वादका अन्त अब तक न हुआ, और अपने-अपने पक्षके समर्थनमें सार्टिफ़िकेट तथा लेखोंमे प्रतिवादीपर कटाक्ष चल हो रहे हैं। उत्तम होता कि अब इसका शेष कर दिया जाता। समालोचनामें गुण-दोष दोनोका एकत्र सन्निवेश ही अधिक वाञ्छनीय है। अच्छी समालोचना वही है, जिसमें गुण और दोष दोनो साथ ही दिखाये जायँ, और ऐसे ग्रन्थके, जिसमें गुणोंका आधिक्य हो, दोष इस प्रकार दिखाये जायँ कि वे सत्य होनेपर भी अप्रिय न जान पड़ें। उसी प्रकार दोषाधिक्यकी अवस्थामें उनका पहले उल्लेख कर पीछे जो गुण पाये जायँ, उनका भी कुछ विशेष वर्णन हो। ऐसा करनेसे पाठकोंके हृदयपर समालोचनाका अच्छा प्रभाव पड़ेगा, और ग्रन्थकार जीवित हो, तो वह सन्तुष्ट ही नहीं, वरन् कृतज्ञ भी होगा, और इससे समालोचनाका प्रकृत उद्देश्य सिद्ध हो जायगा।

किसी ग्रन्थसे केवल दोष ही निकालकर दिखला देना, विशेषकर ऐसे ग्रन्थसे, जिससे अधिकतर लोग अपरिचित हैं, या जिसको वे आदरकी दृष्टि से देखते हैं, कदापि युक्ति-सगत नहीं है। इससे अनभिज्ञ लोगोंकी श्रद्धा उस ग्रन्थपर से पूरी नहीं, तो कुछ तो अवश्य घट जाती है, और अभिज्ञोंको व्यथा पहुँचती है; तथा ऐसी समालोचनामें कोई छिद्र निकलनेपर जैसा कि 'कालिदास-की निरङ्कुशता'में कहीं-कहीं हुआ है, ग्रन्थके भक्त अपना क्रोध संवरण नहीं कर सकते। कालिदासके अनौचित्यपर सरस्वतीके लेख पढ़कर 'मनसाराम'की कुछ ऐसी ही दशा हुई दिखायी पड़ती है।

कालिदासके ग्रन्थ संस्कृतमे है; सरस्वती विशेषकर हिन्दीके जाननेवालोंको शिक्षा प्रदान करती है। यदि सरस्वतीके अधिकतर पाठक कालिदासके ग्रन्थोसे परिचित हो, तो दोषोद्भावनासे कोई क्षति नहीं हो सकती। कारण, उद्भावना, जैसा कि समालोचक महाशय स्वतः कहते हैं, कालिदासके टीकाकारोंके कथनोंके आधारपर की गयी है। परन्तु केवल हिन्दी जाननेवालोंको इस उद्भावनासे कुसंस्कार होना अवश्यम्भावी जान पडता है।

रही 'मनमाराम'की बात, सो उनके लेखोंसे यह तो प्रत्यक्ष है कि वह केवल संस्कृतज्ञ नहीं, वरन् कविता-मर्मज्ञ भी है। अतएव दोषोद्भावना उनके चित्तको चुभी; इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है, और उन्होंने अपना पक्ष समर्थन करनेकी चेष्टा करके कोई अन्याय नही किया। इस चेष्टामें कहीं-कही व्यङ्ग्योक्ति दोष अवश्य हुआ है, पर इसमें भी सम्भव है कि समालोचनाकी भूमिका तथा समालोचककी दृष्टिमें दोष-युक्त श्लोकोकी व्याख्याओंकी शैली कियत् परिमाण में कारण हो। अस्तु, समालोचना और प्रतिसमालोचनासे पाठकोंका केवल मनोरञ्जन ही नहीं हुआ, उनको शिक्षालाभ भी हुआ है।

हिन्दी-भाषाके प्रसिद्ध कवि श्रीमान् पण्डित श्रीधरजी पाठक लिखते हैं—

"'निदर्शन'का दूसरा भाग पढा है। ऐसे वाद-विवादोंसे बहुत कुछ मनोरञ्जन होता है।" इत्यादि।

फाल्गुन कृष्ण १५, संवत् १९६७ का 'सद्धर्मप्रचारक' कहता है—

"आर्य-भाषाके प्रचण्ड लेखक और सरस्वतीके प्रकाण्ड सम्पादक पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदीने कवि-कुल-गुरु कालिदासके कविता-

ध्यानमेंसे किस तरह काँटेदार करीरों की खोज शुरू कर दी है, यह पाठकगण पिछले पर्चेके एक नोटसे जान चुके होंगे। द्विवेदीजी द्वारा इस प्रकारसे अपने प्राचीन वृद्धोंका अतिक्रमण होते देख 'भाषाकी अनस्थिरता'के लेखक 'आत्माराम'के छोटे भाई 'मनसाराम'का खून उबल पड़ा है। मनसाराम भी द्विवेदीजीके पैने दाँतोंकी धारकी परख करनेको अपने भाईके क्रीड़ाक्षेत्र 'भारतमित्र'में खम ठोककर उतरा है। द्विवेदीजीका टाकरा (टक्कर) तो अबके भी अच्छे शूरवीरसे हुआ है। 'मनसाराम'के लेखमें यद्यपि प्रवाहिता (?) मज़ेदार चुटकले और कल्पनाकी खेलें (?) उतनी नहीं पायी जातीं, जितनी आत्मारामके लेखमें थी, तथापि मनसारामके लेखमें भी एक अपना ही सौन्दर्य्य है। मनसाराम संस्कृतका अच्छा जाननेवाला और द्विवेदीजीपर देरसे नज़र रखनेवाला दीखता है। देखें, अबके द्विवेदीजी कुछ युक्तियाँ देकर अपने पक्षको सिद्ध करते हैं, या 'अनस्थिरता'के लेखोंकी तरह मनसारामको गालियाँ देकर ही चुप हो बैठते हैं।"

प्रयागके द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके निर्वाचित सभापति, कलकत्ता-हिन्दी-साहित्य-परिषद्के संरक्षक, हिन्दीके प्रसिद्ध सुलेखक श्रीमान् पण्डित गोविन्दनारायणजी मिश्र लिखते हैं—

"मैंने पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदीकी लिखी 'कालिदासकी निरङ्कुशता'की समालोचना देखी। लेख विद्वानोंके पढ़ने और विचारने योग्य है। द्विवेदीजीने निरपेक्ष समालोचक के धर्म्मानुसार कविवर कालिदासजीकी निरङ्कुशताकी आलोचना मेरी समझके अनुसार यथारीति न कर कई एक स्थलोंपर केवल दोष-प्रदर्शनपर ही

विशेष खैंच तान की है। आपने (मनसारामने) कवि-कुल-चूड़ामणि कालिदासके सिर धींगाधींगीसे आरोपित कलङ्कोंको दूर करनेको यह समयोचित स्तुत्य परिश्रम किया है। आपका उद्देश्य प्रशंसनीय है, और कुछ बातें बड़े मार्केकी लिखी हैं। आपका लेख सुपण्डित और समालोचकोंके पढ़ने, विचारने योग्य है।" इत्यादि।

कलकत्ता - विश्वविद्यालयके व्याख्याता और कलकत्ता-राजकीय संस्कृत-कॉलेजके संस्कृताध्यापक श्रीमान् पण्डित ठाकुरप्रसादजी द्विवेदी व्याकरणाचार्य लिखते हैं—

"श्रीयुत पण्डित मनसारामजीने जो पण्डित महावीरप्रसादजीकी 'कालिदासकी निरङ्कुशता'का खण्डन किया है, यथार्थमें वह वास्तविक है। हमको यह आश्चर्य होता है कि पं० महावीरप्रसाद-जीकी लेखनी ऐसे महाकविके विरुद्ध किस प्रकार उठी। प्रथम उनके भावको पूर्ण रूपसे जान लेते, तब इस प्रकार साहस करते। अवश्य द्विवेदीजीका यह कार्य्य हास्यास्पद है।" इत्यादि।

काशी-जंगमबाड़ी-मठस्थ शैव-भारती-भवनके व्यवस्थापक श्रीवीरभद्र शर्मा तैलङ्ग वेदतीर्थ लिखते है—

"'निदर्शन' इतना अच्छा है कि आपको लौटानेमें मेरा दिल अधीर हो रहा है। क्या करूँ? दूसरा उपाय भी तो नहीं है। फिर भी मेरे दो-एक विद्यार्थियोंने 'निदर्शन'से कई टिप्पणी लिख ली है। श्रीद्विवेदीजीका जो निरङ्कुशता-प्रासाद बन रहा था, वह एकदम गिर पड़ा, या यों लिखना चाहिये कि द्विवेदीजीका 'वैदुष्य-घमण्ड' एक तरहसे विलीन हो गया है। मालूम होता है, तभीसे ही

द्विवेदीजीने ऐसी पुस्तकोंकी रचना नहीं की है। 'निदर्शन' सविनोद, सयुक्तिक है, और निरङ्कुशताका ख़ूब निदर्शक है। अगले संस्करण-में, यदि हो सके तो, द्विवेदीजीके सभी आक्षेप 'निदर्शन'में समावेश करनेकी कृपा कीजिये।"

इतिशम्

गंगा-पुस्तकमाला का १६८वाँ पुष्प

नवयुग-काव्य-विमर्श